हिन्दु नाम कसौटी पर

(यह नाम गर्व की नहीं, लज्जा की बात है)

लेखक :

डॉ० वीरेन्द्र शर्मा

शास्त्री, एम०ए०; पी-एच्० डी०

साधु आश्रम, होशिआरपुर (पं०)

प्रकाशक :

आर्यसमाज बंगा रोड़, फगवाड़ा (पञ्जाब)

प्रथम बार : १०००] [१९९६

वी० वी० आर० आई० प्रेस, साधु आश्रम, होशियारपुर (पं०)

आर्य के गुण, कर्म तथा स्वभाव

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं, न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ।।
न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं, नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं, स कथ्यते सत्पुरुषार्य-शीलः ।।
ज्ञानी तुष्टश्च दान्तश्च, सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
दाता दयालुर्नम्रश्च स्यादार्यो ह्यष्टभिर्गुणैः ।।

—महर्षि वेदव्यास (महाभारत)

अर्थ— श्रेष्ठ लोग उसी मनुष्य को आर्य-स्वभाव वाला बताते हैं जो शान्त हुए वैर को भड़काने का कार्य नहीं करता, अभिमान नहीं करता, निराश नहीं होता, किसी आपदा में ग्रस्त होकर भी कोई करने के अयोग्य कार्य नहीं करता ।।

सुख प्राप्त होने पर जो खुशी से फूला नहीं समाता और दूसरे के दु:ख में भी जो खुशी नहीं मनाता; दान देकर जो पश्चात्ताप नहीं करता उसे आर्य-स्वभाव वाला सत्पुरुष कहा जाता है ।।

मनुष्य आठ गुणों से 'आर्य' बनता है— (1) वेद आदि सत्य शास्त्रों का ज्ञाता हो, (2) सदा सन्तुष्ट रहने वाला हो, (3) मन को वश में रखने वाला हो, (4) सत्यवादी हो, (5) जितेन्द्रिय हो एवं (6) दानी (7) दयालु और (8) विनम्र हो ।

वक्तव्य

जैसे प्राण-दायक, विशुद्ध गङ्गोत्री का पावन जल अविवेकी मनुष्य की करतूतों से इस प्रकार प्रदूषित हो गया है कि उसमें रहने वाले मछली, कछुआ आदि जलचर प्राणी मौत के शिकार होकर रह गये हैं। अब मनुष्य चिन्तित है कि इस प्रदूषण से कैसे छुटकारा मिले। इसी प्रकार मानवमात्र के ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुख का प्रदाता, विशुद्ध, पावन, वेदोक्त धर्म और तद-नुसारी मानव-समाज—अविवेकी, स्वार्थी मनुष्यों के चलाए मत-मतान्तरों से इस प्रकार कलुषित हो गये हैं कि अमूल्य मनुष्य-जन्म के लौकिक और पारलौकिक उभय-विध सुखों के विनाशक सिद्ध हुए हैं। भारतीय जन-समुदाय का—और सामान्यतः मानवमात्र का भी—अहोभाग्य था कि ऋषि दयानन्द सरस्वती का आविर्भाव हुआ जिसने अपने समाधि के सर्वोच्च सुख-भोग को, जो उसने अति कष्ट और तपस्याओं के द्वारा प्राप्त किया था, उसे भी सर्वोपकारार्थ निछावर कर दिया ताकि विशुद्ध वैदिक धर्म तथा समाज में फैले मिथ्या ज्ञान तथा अज्ञान से पैदा हुए मतमतान्तरों के प्रदूषण को दूर करके उनके विशुद्ध स्वरूप को प्रकाशित तथा स्थापित कर दिया जाय जिससे मनुष्यमात्र उसके लक्ष्य चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—को प्राप्त कर सके और अपने 'आर्यत्व' को चरितार्थ कर सके। आज तथाकथित 'हिन्दुसमाज' एक प्रदूषित समाज है। यह इस रूप में न तो अपना कल्याण कर सकेगा और न अन्य का। मिथ्याज्ञान-जनित मतमतान्तर के प्रदूषण से मुक्त समाज ही 'आर्यसमाज' है।

आर्यसमाज ने एक प्रहरी का दायित्व ग्रहण किया था परन्तु अत्यन्त दुर्भाग्य का विषय है कि यह प्रहरी ही सो गया है और गफ़लत का लाभ उठाकर उसके सिद्धान्त-दुर्ग में दूसरे लोग निःशङ्क सेंध दिन-दहाड़े लगाने में लगे हैं। आर्यसमाज के क्षेत्र में ही आर्यत्व

को दबाकर हिन्दुत्व की वर्तमान प्रकल्पना को उठाकर स्थापित करने का एक उदाहरण देहली की पत्रिका 'जनज्ञान' के लेख आदि सामग्री में देखा जा सकता है।

इस प्रसङ्ग में श्रीयुत डॉ० वीरेन्द्र शर्मा जी ने "हिन्दु नाम कसौटी पर—(यह नाम गर्व की नहीं, लज्जा की बात है)" अपने इस लेख में प्रमाण-सहित ऋषि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज की एतद्विषयक धारणा को सत्य स्थापित कर दिया है। इस लेख को अत्यन्त उपयोगी देखकर आर्यसमाज, बंगा रोड़ फगवाड़ा (पञ्जाब) ने मान्यवर डॉ० जी की अनुमति से प्रचारार्थ ट्रैक्ट के रूप में छपा कर प्रकाशित किया है ताकि इस सत्य का अधिकाधिक प्रचार हो सके। श्री डॉ० शर्मा जी ने सहर्ष स्वीकृति देकर हमें अनुगृहीत किया है। इसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

: भवदीय :

प्रधान — बनारसी दास आर्य

मन्त्री — देशबन्धु आर्य एम०ए०

२७-३-१९९६ ई०

हिन्दु नाम कसौटी पर

[यह नाम गर्व की नहीं, लज्जा की बात है]

लेखक :

डा. वीरेन्द्र शर्मा

साधु आश्रम, होशिआरपुर (पंजाब)

I

दिल्ली से प्रकाशित "जनज्ञान (मासिक)" के आषाढ़ 2052 के अङ्क में "आर्य और हिन्दू—एक विचारणीय विषय" के नाम से श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी ने अपना लेख प्रकाशित किया है। इस पत्रिका के सह-सम्पादक ने लेखक का परिचय एक स्वाध्यायशील, विचारक, युवा संन्यासी के रूप में देते हुए अपनी इच्छा प्रकट की है कि 'आर्य विद्वान् लेखक श्री विज्ञानानन्द जी की शङ्काओं का समाधान सुझाएँ'।

उक्त लेख मुझे अपने सुहृद्वर श्री मदनमोहन आर्य (फगवाड़ा, पञ्जाब निवासी) की कृपा से प्राप्त हुआ है। उन्होंने भी इस लेख की युक्तायुक्तता के विषय में मेरे विचार को प्रकाशित करने के लिए आग्रह किया है।

यह लेख स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज की हिन्दु-नाम-विषयक धारणा को खण्डित करते हुए हिन्दु-नाम की वकालत करता है। चूंकि प्रमाणों की कसौटी पर कसे जाने पर ज्ञात होता है कि "अध्ययन, चिन्तन एवं मनन के सहज स्वभाव वाले इन सुशिक्षित युवा संन्यासी के मनन का प्रतिफल-स्वरूप" यह लेख आरम्भ से अन्त तक अयथार्थता से भरा हुआ है और भ्रामक भी है। अतः भ्रान्तियों के अपाकरण की दृष्टि से यह लेख प्रस्तुत किया जा रहा है।

क्योंकि श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी का लेख स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा पूने में दिए प्रवचनों में कथित 'हिन्दु' नाम के दोष को आधार बनाकर प्रवृत्त हुआ है अत: तद्विषयक प्रसङ्गों को हम उपदेश-मञ्जरी से उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं ताकि पाठकों को स्वामी दयानन्द का हिन्दु-नाम-विषयक कथन स्पष्ट हो जाय।

1. 10 जुलाई 1875 ई० के प्रवचन में मूर्ति-पूजा की आलोचना करते हुए स्वामी दयानन्द ने कहा—

"अब रहा प्राण-प्रतिष्ठा के कारण जड़-मूर्ति-पूजा के अर्थ मानने का क्या आधार है, उसे देखो। न तो चारों वेदों में अथवा गृह्य-श्रौत सूत्रों में और (न) षड् दर्शनों में कहीं भी प्राण-प्रतिष्ठा के मन्त्र दिये हैं तो फिर "प्राणेभ्यो नमः" इस प्रकार के प्राण-प्रतिष्ठा के मन्त्र कहां से निकले। उसका विचार हम "हिन्दुओं" को, नहीं, मैं भूला— हम "आर्यों" को करना चाहिए। हिन्दु शब्द का उच्चारण मैंने भूल से किया। हिन्दू अर्थात् काला, काफिर, चोर आदि। यह नाम हमें मुसलमानों ने दिया है[1]। तो, मैंने मूर्खता से उस शब्द को मैंने स्वीकार किया था। "आर्य" अर्थात् श्रेष्ठ, यह हमारा नाम है—

---

1. (1) फारसी शब्दकोश 'ग़यासुल्लुग़ात' में "हिन्दु" शब्द का अर्थ—
हिन्दु : काला, काफिर, चोर, बदमाश, बटमार, मस्सा, छछून्दर।
(2) उर्दू भाषा के 'करीमुल्लुग़ात' में इस का अनुकरण किया है।
(3) उर्दू की 'सईदुल्लुग़ात' पृ० 1254 (1940 ई०) में—
"हिन्दु" : हिन्दुस्तान की वाशिन्दा कौम जो बुतों को पूजती है, हिन्दुस्तान का रहने वाला, चोर, राहज़न, लुटेरा, गुलाम, हब्शी, काला आदमी।
(4) इससे पूर्व (1931 ई०) में छपी 'फ़िरोजुल्लुग़ात', हिस्सा 2, (फिरोज प्रिंटिंग वर्क्स, 119 सरकूलर रोड, लाहौर) में तथा
(5) पर्शियन डिक्शनरी 'जवाहरुल्लुगात' (प्रकाशक— सैयद सख़ावत हुसैन अख़्त्यार अली, सब्जी मण्डी, आगरा) में भी उपर्युक्त अर्थ है।

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन ॥
(ऋग्वेद 1. 51. 8)

आर्यौ ब्राह्मणकुमारयोः । (अष्टाध्यायी 6. 2. 58)

भाइयो ! दस्यु-सदृश अव्रतचारी लोगों के साथ लड़ने वाले हम व्रतचारी आर्य हैं, तो स्मरण रहे ।"

2. 24 जुलाई, 1875 ई० को दिए प्रवचन में भी अपने देश का नाम "आर्यावर्त्त" और हमारा नाम "आर्य" है, इसका प्रतिपादन करके कहा कि ऐसी व्यवस्था होते हुए हमारे देश का नाम "आर्यस्थान" अथवा "आर्यखण्ड" होना चाहिए। सो उसे छोड़; न जाने, "हिन्दुस्थान" यह नाम कहाँ से निकला। भाई श्रोतागण ! हिन्दु शब्द का अर्थ काला, काफिर, चोर आदि है और "हिन्दुस्थान" कहने से "काले, काफिर, चोर आदि लोगों की जगह अथवा देश" ऐसा अर्थ होता है। भाई ! इस प्रकार का बुरा नाम क्यों ग्रहण करते हो। और आर्य अर्थात् श्रेष्ठ अथवा अभिजात इत्यादि, और आर्यावर्त्त कहने से ऐसों का देश—ऐसा अर्थ होता है। सो, भाई ! ऐसे श्रेष्ठ नाम का तुम ग्रहण क्यों नहीं करते । क्या तुम अपना नाम भी भूल गये ? हाँ ! हम लोगों की यह स्थिति देखकर किसके हृदय को क्लेश न होगा। अस्तु ! सज्जन जन ! आज से हिन्दु नाम का त्याग करो और आर्य तथा आर्यावर्त्त इन नामों का अभिमान धरो। गुण-भ्रष्ट हम लोग हुए, तो हुए। परन्तु नाम-भ्रष्ट तो हमें न होना चाहिए। ऐसी आप सबों से मेरी प्रार्थना है।"[1]

स्वामी दयानन्द के इन वक्तव्यों के सन्दर्भ में स्वामी विज्ञानानन्द जी के लेख को हम पढ़ें तो ज्ञात होगा कि लेखक महोदय ने इस विषय में शङ्काएँ प्रस्तुत नहीं की हैं, प्रत्युत इस विषय में अपना अभिमत आर्य-जनों के, विशेषकर आर्यसमाजियों के, समक्ष इस अभिप्राय से प्रस्तुत किया है कि उन्हें यह बताया जाय कि आज के

1. उपदेश-मञ्जरी, कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, मार्च 1969 संस्करण, पृ० 30 तथा पृ० 95-96 ।

प्रसङ्ग में "आर्य" की अपेक्षा से हिन्दु शब्द ही ठीक है और स्वामी दयानन्द तथा उनके अनुयायी आर्यसमाजियों ने हिन्दु नाम के स्थान पर "आर्य" शब्द को अपनाने का जो आग्रह किया और अब भी करते हैं, वह निराधार है क्योंकि हिन्दु शब्द हमारी अपनी ही भाषा-परम्परा का है, विदेशी मुसलमानों का दिया नहीं है। मुसलमानों के शब्द-कोशों में इस शब्द का जो "काला, काफिर, चोर आदि अपमानजनक अर्थ है वह उपेक्षणीय है क्योंकि विरोधी लोगों के द्वारा इस प्रकार का अर्थारोपण करना स्वाभाविक ही है और यदि इस भय से हिन्दु नाम को छोड़ा जाय तो आर्य नाम को भी छोड़ना पड़ेगा क्योंकि मुसलमानों के शब्दकोश के अनुसार तो इस शब्द का भी अर्थ "चोर, काफिर" आदि ही है। तब क्या आर्य-समाजी बन्धु इस नाम को भी छोड़ देंगे? यदि आर्य शब्द को वे छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं तो हिन्दु-मानी लोग अपने "हिन्दु" नाम को क्यों छोड़ें" ? इतना ही नहीं, स्वामी विज्ञानानन्द जी कहते हैं कि, आरम्भ के अनेक आर्यसमाजी ही नहीं बल्कि स्वयं स्वामी दयानन्द ने भी "हिन्दु" शब्द का प्रयोग बहुमान-पूर्वक किया है। किञ्च, आज के प्रसङ्ग में हिन्दु शब्द हमारे राष्ट्र की अखण्डता और विस्तार का प्रतीक बना हुआ है। आर्य शब्द का प्रयोग करने पर तो हमारे दक्षिण भारत के निवासी राष्ट्र से अलग होने का अभियान करने लगेंगे, जबकि आज वे गर्व से कहते हैं कि "हम हिन्दु हैं"। तो, श्री विज्ञानानन्द जी ने इस दृष्टि से अपने सुविचारित-निर्णीत अभिमत ही प्रस्तुत किए हैं और आर्यसमाजियों को प्रेरणा की है कि वे भी गर्व से कहें कि हम हिन्दु हैं।"

इस प्रकार स्वामी विज्ञानानन्द जी का सारा प्रयत्न यह दिखाना है कि हिन्दु नाम हमारा ही है; विधर्मी, विदेशी मुसलमानों के द्वारा दिया नहीं है। इस प्रयत्न में उन्होंने पारसी तथा ग्रीक की परम्पराओं का खण्डन करके अपनी भारतीय परम्परा में ही हिन्दु नाम को दिखाने का प्रयत्न किया है। अत: उनकी इस मूलभूत धारणा की परीक्षा सबसे पहले की जानी चाहिए। अत: सबसे प्रथम यह विचार कर लें कि "हिन्दु" नाम भारतीय परम्परा का है अथवा विदेशी मुसलमानों का दिया हुआ है।

II

हिन्दु शब्द की विदेश-मूलकता

(क) "हिन्दु" शब्द भारतीय भाषा-परम्परा में नहीं है—

यह तो निर्विवाद है कि "हिन्दु" शब्द का मूल संस्कृत का सिन्धु शब्द ही है। स्वामी विज्ञानानन्द जी भी इसे स्वीकार करते हैं। प्रश्न यही है कि "सिन्धु" शब्द का "हिन्दु" यह विकार किस भाषा-परम्परा में हुआ है। क्या यूनानी (ग्रीक) भाषा-परम्परा में, अथवा पारसी-परम्परा में या फिर भारतीय भाषा-परम्परा में ? यह जान लेना आवश्यक है कि जब कोई भाषा परिवर्तित होकर किसी अन्य भाषा का स्वरूप ग्रहण करती है तो मूल भाषा में हुआ ऐसा परिवर्तन किसी नियम के विना ही, मनमानी से, नहीं होता बल्कि नियमाधीन ही होता है क्योंकि जब किसी भाषा में परिवर्तन होने लगता है तब परिवर्तन का झुकाव (Trend) समान परिस्थितियों में किसी एक क्षेत्र-विशेष में, एक कालावधि में, एक ही दिशा में, एक ही साथ हो जाता है। समान परिस्थितियों में भाषा की किसी एक नियत इकाई का परिवर्तन एक साथ एक ही दिशा (Direction) में सर्वत्र होने से ही हम कह रहे हैं कि भाषा में होने वाले परिवर्तन नियमाधीन ही होते हैं, मनमानी से नहीं। इसी नियम के बल पर ही हम यहां दावा कर रहे हैं कि संस्कृत के सिन्धु शब्द का किसी भारतीय भाषा में "हिन्दु" यह रूप नहीं हुआ। क्योंकि संस्कृत के किसी भी शब्द के आरम्भ का असंयुक्त "स्" प्राकृत भाषा में भी यथावत् "स्" ही रहा है, परिवर्तित नहीं हुआ। यथा—

संस्कृत शब्द के प्राकृत शब्द			संस्कृत शब्द के प्राकृत शब्द		
(1)	सुप्त →	सुत्त	(2)	सप्त →	सत्त
(3)	सद्भाव →	सब्भाव	(4)	सैन्य →	सेण्ण
(5)	सौभाग्य →	सोहग्ग	(6)	सर्प →	सप्प
(7)	सत्य →	सच्च	(8)	सूत्र →	सूत्र
(9)	सुख →	सुह	(10)	सर्व →	सव्व

यहाँ संस्कृत-शब्द के आरम्भ का 'स्' प्राकृत भाषा में 'स्' ही बना रहा है. स् का 'ह्' नहीं हुआ ।

प्राकृत भाषाओं से आगे परिवर्तन होकर अपभ्रंश भाषाएँ अस्तित्व में आई हैं। उन अपभ्रंशों से परिवर्तित होकर आजकल की हिन्दी, पञ्जाबी, गुजराती, बङ्गला, महाराष्ट्री आदि भाषाओं की परम्परा चली है। इनमें सर्वत्र शब्द के आरम्भ का "स्" यथावत् बना रहा है, "ह्" नहीं हुआ। यथा पञ्जाबी में सत्त् और हिन्दी आदि में सात (7) का स् संस्कृत के "सप्त" के स् को बनाए हुए हैं। सुहाग, सुहागिन का स् संस्कृत के सौभाग्य और सौभाग्यिनी का ही है। इसी प्रकार सत्तु (सक्तु), साँप, सब, सेना आदि का "स्" संस्कृत का स् ही है। "ह्" नहीं हुआ। सो, भारत में संस्कृत की लम्बी परम्परा में शब्द के आरम्भ का स् कहीं भी "ह्" नहीं हुआ। इसी प्रकार संस्कृत का "सिन्धु" शब्द भी, आज दिन तक "सिन्ध" ही रहा है, 'हिन्द/हिन्दु' नहीं हुआ। मुसलमानी पाकिस्तान में भी लगभग 50 वर्ष के पश्चात् भी सिन्धु नदी को 'सिन्ध दरिया', प्रदेश को 'सिन्ध सूबा' बोलते और लिखते हैं। इससे स्पष्ट है कि भारत भर के सभी प्रदेशों में संस्कृत का "स्" यथावत् बना रहा आया है, 'ह्' नहीं हुआ।

अतः यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि संस्कृत के सिन्धु शब्द का भारतीय भाषा-परम्परा में "हिन्दु" ऐसा शब्द कभी भी नहीं हुआ।

तब "सिन्धु" का "हिन्दु" यह विकार क्या ग्रीक परम्परा में हुआ ?

(ख) ग्रीकभाषा-परम्परा और हिन्दु शब्द—

संस्कृत का पदादि (=शब्द के आरम्भ का) "स्" ग्रीक-भाषा में परिस्थिति-विशेष में "ह्" बना है। यथा संस्कृत के सुतः शब्द का ग्रीक-रूप huios है, संस्कृत के सप्त का ग्रीक में hepta है। परन्तु संस्कृत के इस "सिन्धु" शब्द का ग्रीक में "हिन्दु" ऐसा उच्चारण कभी नहीं हुआ। "ह्" एक प्राण-ध्वनि (aspirated sound) है। ग्रीक भाषा में यह दो प्रकार की है— (1) rough breathing

और (2) soft breathing। जिस स्वर (vowel) से पूर्व rough breathing होती है ग्रीक-लेखन में उस स्वर के ऊपर "c" इस प्रकार लिखते हैं और उस स्वर से पूर्व "ह्" (h) का जैसा उच्चारण होता है। ऊपर इङ्गलिश-लेखन में huios और hepta में इस उच्चारण को दिखाया गया है। दूसरी soft breathing का अगले स्वर (vowel) के ऊपर "'" इस प्रकार लिखते हैं। परन्तु इसका उच्चारण नहीं होता जैसे कि इंगलिश के honest, hour आदि के 'h' का उच्चारण नहीं होता। जहाँ तक संस्कृत के "सिन्धु" शब्द का प्रश्न है ग्रीक में इसका "हिन्दु" ऐसा उच्चारण कभी भी नहीं हुआ। संस्कृत के 'सिन्धु' शब्द के लिए ग्रीक लोगों ने Indu/Indi ऐसा उच्चारण किया। यहां संस्कृत के सिन्धु के "ध्" के समानान्तर ग्रीक के Indu/Indi में द् (d) का पाया जाना यह सिद्ध करता है कि ग्रीक लोगों को "सिन्धु" शब्द का साक्षात्-श्रवण नहीं हुआ, प्रत्युत उन्हें "हिन्दु" शब्द का ही श्रवण हुआ। यदि उन्होंने 'सिन्धु' का श्रवण किया होता तो उनके उच्चारण में संस्कृत के "ध्" के समानान्तर 'थ्" (th) होना चाहिए था क्योंकि संस्कृत के वर्गीय चतुर्थ घोष-महाप्राण "घ् ध् भ्" का ग्रीक में क्रमशः वर्ग-द्वितीय ख् थ् फ् हो गया और पारस की जेन्द अवेस्ता में वे क्रमशः वर्ग-तृतीय ग्, द्, ब् हो गये थे। यदि ग्रीक लोगों ने संस्कृत के "सिन्धु" शब्द का श्रवण किया होता तो जैसे संस्कृत के 'मधु' शब्द के ध् का ग्रीक में methus में थ् (th) है, संस्कृत के 'रुधिर' के 'ध्' का ग्रीक में irythios में th है वैसे सिन्धु के 'ध्' के समानान्तर थ् (th) होकर यहाँ Inthu या Inthi होता, परन्तु है Indu/Indi। अतः संस्कृत के "ध्" के समानान्तर ग्रीक में द् (d) का पाया जाना सिद्ध करता है कि ग्रीक लोगों ने पारस में उच्चारित "हिन्दु" शब्द ही सुना, 'सिन्धु' शब्द नहीं। पारसी जेन्द-अवेस्ता के द् (d) का ग्रीक में भी "द्" (d) ही है, यथा अवेस्ता का daeva ग्रीक में भी daeva ही है। यह संस्कृत का "देव" है। संस्कृत का 'ददाति' है ग्रीक में वही 'दिदोति' है तो, पारसी में 'ददइति' है। इससे एकदम स्पष्ट है कि ग्रीक लोगों को 'सिन्धु' शब्द का परिचय साक्षात् नहीं हुआ, बल्कि पारसियों के 'हिन्दु' शब्द के द्वारा हुआ क्योंकि संस्कृत के 'सिन्धु के ध् का पारसी में "द्" होना नियमित है और उनके "हिन्दु" के "द्" का ग्रीक

के Indu/Indi में "द्" होना भी नियमित ही है। पारसी के "हिन्दु" शब्द के "ह्" का ग्रीक में soft asper होने से "इ" से पूर्व का asper उच्चारण में न होने से वह लुप्त हो गया, इससे ग्रीक का उच्चारण Indu/Indi होना भी नियमित है। इन ग्रीक लोगों के माध्यम से लैटिन वालों ने सिन्धु शब्द को Indus इस रूप से उच्चारण किया। आज भी सिन्धु नदी के लिए Indus शब्द प्रयुक्त होता है।

यह भी एक तथ्य अवधेय है कि पारसी लोग सिन्धु-प्रदेश के साक्षात्-सम्बन्ध में रहे थे क्योंकि बहुत प्राचीन काल में सिन्धु-प्रदेश पारस की पूर्वी सीमा से जुड़ा हुआ था और तब पञ्जाब भी सिन्धु-प्रदेश के अन्तर्गत था। मैगास्थनीज़ के द्वारा लिखे भारत के विवरणों से यह तथ्य जानने में आता है कि भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश का वाचक 'सिन्धु" शब्द पारस आदि पश्चिमी देशों वाले लोगों के व्यवहार में पूरे भारत भर का वाचक हो गया था। मैगास्थनीज़ जो चन्द्रगुप्त मौर्य की राजधानी पाटलिपुत्र में 5 वर्ष (302-298 ई० पू०) रहा उसने भारत के जो संस्मरण लिखे थे उनको उसने Indika नाम दिया था।

सो, इस विवरण से स्पष्ट है कि संस्कृत के 'स्' का यद्यपि ग्रीक में कहीं-कहीं "'ह्' अवश्य हुआ है परन्तु यह भी निश्चित तथ्य है कि 'सिन्धु' शब्द का 'हिन्दु" यह विकार ग्रीक लोगों की देन नहीं है।

(ग) "हिन्दु" शब्द का मूल पारसी-परम्परा में ही है—

पारस (फारस=ईरान) की उपलब्ध प्राचीनतम भाषा ज़रथुस्तर् की ज़ेन्द-अवेस्ता में प्राप्त है और भारत की संस्कृत-भाषा के साथ निकटतम सम्बन्ध रखती है। इस भाषा में संस्कृत के "स्" का "ह्" पाया जाता है। यथा—

	संस्कृत		अवेस्ता
1.	सप्त	→	(हफ़्त) hafta
2.	सेना	→	हएना (haena)
3.	सर्व	→	हर्व (harva)
4.	सोम	→	हओम (haoma)

	संस्कृत		अवेस्ता
5.	सखा	→	हख्श (Haxa)
6.	असुर	→	अहुर
7.	सरस्वती	→	हरह्वती

इसी प्रकार संस्कृत का 'सिन्धु' शब्द भी ज़ेन्द-अवेस्ता में ही "हिन्दु" हो गया था। अभी यह कहा जा चुका है कि संस्कृत के वर्ग-चतुर्थ (घ् ध् भ्) का अवेस्ता में क्रमशः ग् द् ब् हो गया था। यथा—

	संस्कृत		अवेस्ता		संस्कृत		अवेस्ता
1.	घर्म	→	गर्म	4.	भूमि	→	बूमि
2.	धारयत्	→	दारयत्	5.	भ्राता	→	ब्रातर
3.	दधामि	→	ददामि	6.	भरति	→	बरइति आदि।

तो यह तथ्य है कि ज़ेन्द-अवेस्ता जैसी प्राचीन भाषा में ही संस्कृत के सिन्धु शब्द के 'स्' का 'ह्' और 'ध्' का 'द्' होकर "हिन्दु" हो गया था। ज़रथुस्तर् का काल ग्रीक के इतिहासकार प्लाइनी ने, प्राचीन इतिहासकारों के अनुसार, लगभग 5000 वर्ष पूर्व का अनुमित किया है। तो, तभी संस्कृत के 'सिन्धु' का 'हिन्दु' हो चुका था। परन्तु याद रहे कि यह 'हिन्दु' शब्द भारत-परम्परा में नहीं था। कहा जा चुका है कि भारत-परम्परा में (पाकिस्तान-सहित) आज भी सिन्धु या सिन्ध शब्द का ही प्रयोग है। जैसे सिन्धु का हिन्दु यह विकार पारसी परम्परा की देन है वैसे ही 'सप्ताह' शब्द का 'हफ़्ता' शब्द भी पारसी-परम्परा की ही देन है, भारतीय भाषा-परम्परा की नहीं, जैसा कि स्वामी विज्ञानानन्द जी ने कहा है। यह पहले कहा जा चुका है कि संस्कृत के शब्द का प्रथम 'स्' सारी ही भारतीय परम्परा में 'स्' ही रहा है। 'सप्त' का 'सत्त्' 'सात' में 'स्' का ही प्रयोग है। अतः "हफ़्ता" शब्द पारसी परम्परा का ही सिद्ध होता है। परन्तु स्वामी विज्ञानानन्द जी कहते हैं कि हफ़्ता शब्द का प्रयोग भारत में गाँवों के लोग भी करते हैं सो, गाँवों तक में प्रयोग होने से यह भारतीय परम्परा का ही

गया। सो, स्वामी विज्ञानानन्द जी का यह मानना और कहना सर्वथा व्यर्थ है। गाँवों में शतश: अरबी, फारसी, इंगलिश के शब्द आज प्रयुक्त हो रहे हैं। इस आधार पर इन्हें भारतीय भाषा-परम्परा के शब्द नहीं माना जा सकता। ऐसे सैकड़ों शब्द विदेशी मूल के हैं। वे किसी कारण अरब, फारस, इंग्लैंड आदि देशों से यहां पहुँच गए हैं। उन्हें भारतीय भाषा-परम्परा का कहना अपनी मूर्खता प्रसिद्ध करना है। सो, गाँवों में भी प्रयुक्त होने से हफ़्ता शब्द भी भारतीय भाषा-परम्परा का नहीं स्वीकार किया जा सकता।

किञ्च, "सप्त" के 'प्" का "हफ़्ता" में "फ़्" का भी पाया जाना इसके फारसी परम्परा के सबूत को और भी दृढ़ करता है। सो, दूसरी भाषाओं से आये ऐसे शब्दों को भाषातत्त्वविद् विद्वज्जन "उधार-शब्द" (Borrowed word) के नाम से जानते और कहते हैं और भाषा में कब और कैसे आ गये—इसके कारण और मूल की व्याख्या भी करते हैं। हमें बहुत अफ़सोस है कि श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी महाराज का भाषा-सम्बन्धी इस विषय में चञ्चु-प्रवेश भी नहीं है। पुनरपि इसमें अपनी टांग अड़ाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं और न जानते हुए भी निर्णय देने का अति-साहस भी प्रदर्शित करते हैं।

संस्कृत "स्" का भारतीय परम्परा में "ह्" सिद्ध करने के लिए स्वामी विज्ञानानन्द जी ने तीन उदाहरण दिये हैं— 'सिन्धु' से 'हिन्दु', 'सप्त' से 'हफ़्ता' और 'असम' का 'अहोम'। प्रथम दो की परीक्षा हो चुकी है। तीसरे की परीक्षा प्रसङ्ग-प्राप्त है। सो, विचार करने पर लगता है कि श्री स्वामी जी को असम से अहोम की यह कौड़ी बहुत दूर से और अत्यन्त परिश्रम से प्राप्त हो सकी है। किसी कौड़ी का भी कोई मूल्य अवश्य होता है। परन्तु, खेद है, उनकी इस कौड़ी का कोई भी मूल्य नहीं है क्योंकि उनकी यह कौड़ी सर्वतः टूटी-फूटी हुई है। स्वामी विज्ञानानन्द जी महाराज का 'हिन्दु' शब्द पर बहुत आग्रह रहता है। सो, हिन्दु-दुराग्रह के के ग्राह से गृहीत होने के कारण वे चिन्तित हैं कि किसी प्रकार भारतीय परम्परा में 'स्' का 'ह्' सिद्ध किया जाय जिससे स्वामी दयानन्द द्वारा अभिमत 'सिन्धु' का 'हिन्दु' प्रयोग विदेशी मुसलमानी

परम्परा में न होकर भारतीय परम्परा में सिद्ध किया जा सके। हमारी आपत्ति यह है कि स्वामी विज्ञानानन्द जी भारतीय परम्परा में "सिन्धु" के पदादि स् का ह् सिद्ध करना चाहते हैं और इसके लिए आसाम प्रदेश में असम शब्द के पद-मध्यगत स् का अहोम में ह् उच्चारण प्रस्तुत कर रहे हैं। इससे पद के मध्यगत स् के ह् से पद के आदि "स्" का "ह्" सिद्ध नहीं होता क्योंकि हमारा तो दावा यह है कि भारतीय परम्परा में संस्कृत के पदादि स् का कोई परिवर्तन कहीं भी नहीं हुआ, स् ही रहा है। अतः भारतीय परम्परा के अहोम से "हिन्दु" शब्द को भारतीय परम्परा में सिद्ध नहीं किया जा सकता। भारतीय परम्परा में पदमध्य-गत "स्" के "ह्" होने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। पदमध्यगत स् के कहीं-कहीं "ह्" होने को तो हम स्वीकार करते हैं। प्राकृत के पदमध्यगत स् का कुछ आधुनिक भारतीय भाषाओं में "ह्" हुआ है। यथा— हिन्दी में ग्यारह, बारह, तेरह, सोलह आदि संख्यावाचक शब्दों में। यहां संस्कृत के एकादश, द्वादश, त्रयोदश, षोडश के प्राकृत में एगारस, बारस, तेरस, सोलस प्रयोग था। इससे सिन्धु का भारतीय परम्परा में "हिन्दु" सिद्ध नहीं किया जा सकता। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में वैषम्य है।[1]

---

1. कहीं-कहीं आज की गँवारू गुजराती में पद के आदि "स्" का "ह्" देखने में आता है। यथा संस्कृत "संबुद्धि" [> समझ (हिन्दी), समज (मराठी)] के समानान्तर गुजराती में हमजे बोला जाता है। संस्कृत "सप्त" का हिन्दी आदि में "सात" है परन्तु गुजराती में कहीं-कहीं "हात" बोला जाता है। इसी प्रकार भारतीय परम्परा में पदादि सिन्धु का "हिन्दु" होने में क्या आपत्ति हो सकती है ? यहाँ हमारा उत्तर है कि— आधुनिक गुजराती भाषा लाटी अपभ्रंश का विकार है। संस्कृत के पदादि स् का ह् लाटी प्राकृत/अपभ्रंश में भी नहीं हुआ। अतः कहीं-कहीं गुजराती में प्राप्त 'हात', 'हमजे', जैसे प्रयोगों में हमारा कथन है कि— जैसे "हिन्दु" यह उच्चारण अरबी मुसलमानों की देन होने से एक विदेशी उधार शब्द माना जा रहा है वैसे हमजे, हात जैसे शब्द भी गुजरात में पारसी लोगों की देन हैं। जब प्रथम अरबी मुसलमानों ने और बाद में तुर्की मुसलमानों ने पारस देश पर आक्रमण करके विध्वंस किया तो अनेक

पारस में हिन्दु शब्द की प्राचीनता—

पारसी लोग भी अपने आपको "आर्य" नाम से पुकारते थे और इस नाम को श्रेष्ठ अर्थ में ही प्रयुक्त करते थे। यह तथ्य पारस के प्राचीनतम ग्रन्थ जेन्दावस्ता से ज्ञात होता है। जेन्दावस्ता के सिराज 1, 25 में कथन है कि 'मज्दा (महान्=परमेश्वर) ने आर्यों की प्रतिष्ठा में जिन्हें बनाया है'। वहीं 2, 8 में फिर कहा है कि "आर्यों" के सम्मानार्थ हम होम करते हैं। उन्हें मज्दा ने बनाया है"। अस्तद यश्त का पूरा का पूरा ही 18वां अध्याय आर्यों की प्रशंसा को समर्पित है (द्रष्टव्य Zend Avesta, II, P. 283)। आर्य शब्द के विद्यमान होने पर भी यह ज्ञातव्य है कि जेन्द-

---

अग्नि-पूजक पारसी भागकर भारत के गुजरात और बम्बई प्रदेशों में बस गए थे और वे आज भी विद्यमान हैं। उनके द्वारा ही अपनी वासना-वश "हात", "हाडा" (=सार्ध), "हमजे" जैसा उच्चारण किया गया है। यह भी "हिन्दु" की तरह पारसी देन है। अन्तर केवल यह है कि हिन्दु-शब्द अरबों द्वारा लाया गया है तो हात, हाडा, हमजे गुजरात में पारसियों की ही देन हैं। इससे "स्" के "ह्" को भारतीय परम्परा नहीं माना जा सकता। यह अवधेय है कि गुजरात एक उपजाऊ प्रदेश है। सो, प्राचीन काल से ही विभिन्न प्रदेशों से तथा विदेशों से भी लोग गुजरात में आकर बसते रहे हैं। महाभारत-काल (कम से कम 3500 वर्ष पूर्व) में श्रीकृष्ण के यादवों ने द्वारका में प्रवेश किया। ग्रीक और सीथियन भी आकर बस गए। पश्चात् पारसी आये और बस गए। अरब और तुर्क भी आकर बस गये। हम यह भी जानते हैं कि पञ्जाब, राजस्थान एवं मालवा से गुर्जर भी आये और बस गये जिनके बसने से इस प्रदेश को "गुजरात" कहा जाता है। इससे पहले यह प्रदेश "लाट" देश और वहां की प्रादेशिक भाषा लाटी प्राकृत/अपभ्रंश कही जाती थी। परन्तु विभिन्न भाषा-भाषियों के आने और बस जाने से गुजराती भाषा एक संकर-भाषा है। अतः विभिन्न देशों, प्रदेशों की भाषाओं के विभिन्न लाक्षणिक चिह्न इस भाषा में पाये जायें तो आश्चर्य की बात नहीं है। अतः इस भाषा में विदेशी लक्षणों को अलग करके ही भारतीय भाषा-परम्परा को जानना आवश्यक है। आज की गुजराती से पूर्व की "लाटी" में संस्कृत का पदादि स् वहाँ स् ही रहा है, ह् नहीं हुआ।

अवेस्ता में सिन्धु शब्द का विकृत "हिन्दु" शब्द उपलब्ध है। यह नदी-विशेष और प्रदेश-विशेष का वाचक है। पारसियों की धर्म-पुस्तक शातीर में भी एक रोचक प्रसङ्ग द्रष्टव्य है जिसमें भारत के लिए "हिन्द" और भारतियों के लिए "हिन्दु" शब्द का प्रयोग है—

"अकनूँ बिरहमने व्यास नाम आज हिन्द आमद बस दाना कि अकल चुना नस्त"।

(=व्यास नामक एक ब्राह्मण हिन्द (भारत) से आया जिसके बराबर कोई दूसरा अकलमन्द न था— [क्या ये व्यास कृष्ण द्वैपायन थे?])।

इसी पुस्तक में भारतीय अर्थ में 'हिन्दी' शब्द का भी प्रयोग है। यथा—

चूं व्यास हिन्दी बलख़ आमद, गस्ताशप जरदुश्त रावं ख्वान्त।

(=जब हिन्द वाला व्यास बलख में आया तो ईरान के बादशाह गश्ताशप ने जरदुश्त को बुलाया— [क्या दोनों में शास्त्रार्थ के लिए?])।

फिर आगे लिखा— "मंन मरदे अम हिन्द निजाद" (=मैं हिन्द में उत्पन्न पुरुष हूँ)। आगे भी है— "व हिन्द वाज गश्त" (=फिर वह हिन्द को वापस लौट गया)।

इस शातीर के उल्लेख से एकदम स्पष्ट है कि पारस देश में हजरत मुहम्मद से हजारों वर्ष पूर्व "हिन्द" और "हिन्दी" शब्द भारत के पश्चिम देशों में प्रचलित हो गये थे।

(घ) अरब में हिन्दु शब्द —

पारस आदि देशों के साथ सम्पर्क होने से अरब देश वालों के व्यवहार में भी भारत और भारतियों के लिए 'हिन्द' और 'हिन्दी' शब्दों का प्रचलन अशक्य नहीं था। अरब देश में भारत के लिए "हिन्द" शब्द का प्रयोग लाबी नामक कवि ने किया भी है। यह कवि हजरत

मुहम्मद से 2400 वर्ष पूर्व विद्यमान बताया गया है[1]। यह कवि अख़ताब का पुत्र और तुर्फ़ा का पौत्र था। इसकी एक अरबी कविता का संकलन अब्बासी खलीफा हारूँ रशीद (788–808 ई०) के दरबार में विद्यमान अस्माई मलेकुस शरा नामक कवि ने किया था। लाबी कवि ने यह कविता अरबी भाषा में भारत की और उसमें प्रचलित वेदों की प्रशंसा में लिखी थी। उसमें लाबी ने भारत के लिए "हिन्द" शब्द का ही प्रयोग किया था। यथा—

1. "अया मुबारकल् अर्जे योशेय्ये नुहामिनल् हिन्दे फाराद-
कल्लाहो मैय्योनज्ज़ेला जिक्रतुन्।"

अंग्रेज़ी अनुवाद—

"Oh blessed land of Hind (India) ! thou art worthy of reverence for in thee has God revealed true knowledge of Himself".

हिन्दी छाया— ओ धन्य हिन्द भूमि ! तू निश्चय ही हमारे सम्मान के योग्य है जिसमें परमेश्वर ने अपना सच्चा ज्ञान (वेद) प्रकाशित किया है।

2. वहल तजल्लेयतुन् ऐनाने सहबी अरबातुन् हाजही युनज्ज़ेल
रसूलो ज़िक्रतान मिनल् हिन्दतुन्।

What a pure light do these four revealed books afford to our mind's eyes like the (charming cool) lustre of the dawn. These four, God revealed unto His prophets (Rishis) in Hind.

---

1. "हिन्दु" शब्द का प्रयोग जरदुश्त ने अपनी ज़ेन्द-अवेस्ता में किया है। जरदुश्त का समय अरस्तू ने (प्लाइनी के अनुसार) प्लेटो से भी 6000 वर्ष पूर्व का बताया है। प्लाइनी ने स्वयं मूसा से हजारों वर्ष पूर्व का कहा है। यह विवरण मैक्समूलर ने दिया है (देखिए L. S. L, Vol. I, p. 242)। अतः लाबी का ऊपर का लिखा काल आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु आज के ऐतिहासिक विद्वान् जरदुश्त को 1500–2000 ई० पू० तक का अनुमान करते हैं।

हिन्दी छाया— उषा के (लुभाते एवं शीतल) चमकते उजाले की उपमा वाला यह क्या ही पवित्र-पावन प्रकाश इन अपौरुषेय चारों (वेदों) ने हमारे मन की आंखों के लिए प्रदान किया है। वे चार (वेद) परमात्मा ने अपने (प्रिय) ऋषियों पर हिन्द में ही प्रकाशित किये हैं।

यहां लावी कवि ने प्रशंसित भारत को "हिन्द" नाम से ही पुकारा है। इस प्रकार अरब देश में भी भारत को "हिन्द" शब्द से और यहां के निवासियों को "हिन्दु" शब्द से पुकारा है।

अरब में सभी मूर्ति-पूजकों के प्रति अपमान की भावना—

अरब देश में हिन्दु शब्द आरम्भ में घृणित अर्थ को सूचित नहीं करता था। वह केवल हिन्द (भारत) देश के निवासी का वाचक था। परन्तु जब अरब देश में इस्लाम-मत चला तो इसके परिणाम-स्वरूप हिन्दु शब्द काफिर का वाचक हो गया। ऐसा हो जाने से ही यह मुसलमानों में निन्दा का सूचक बन गया। हज़रत मुहम्मद (571-632 ई०) के समय में अरब, मिस्र, टर्की, मैसोपोटामिया, सीरिया, ईराक, ईरान, अफगानिस्तान आदि देशों में मूर्ति-पूजक बौद्धों का बाहुल्य था। फिलिस्तीन आदि प्रदेशों में मूसा के अनुयायी यहूदी तथा ईसा के अनुयायी ईसाई भी थे। मुहम्मद का जन्म मक्का के जिस कुरैशी कबीले में हुआ वहाँ मक्का में ही 360 मूर्तियों की पूजा होती थी। वहां मूर्तियों को "बुत" कहने से ही स्पष्ट हो जाता है कि ये मूर्तियां महात्मा "बुद्ध" की ही थीं[1]। इनकी पूजा से ही इन मूर्ति वालों की आजीविका चलती थी। मुहम्मद इस मूर्ति-पूजा का विरोध करते थे। सो, मूर्ति-पूजकों से मुहम्मद का विरोध हो गया। प्राणों का भय हो जाने पर 622 ई० में मुहम्मद भागकर मदीना में चले गए और वहीं अपने जीवन के अन्तिम 10 वर्ष बिताए। वहीं

---

1. बुद्ध-मत की महायान शाखा में बुद्ध की मूर्ति की पूजा का अवकाश था। कुषाण वंश के महाराज कनिष्क ने महायान के बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा मिस्र, मैसोपोटामिया तक महायान शाखा का प्रचार करवाया था। इससे उन देशों में मूर्ति-पूजा प्रचलित थी। कनिष्क का समय प्रथम शताब्दी ईसवी माना जाता है।

उन्होंने कुर्आन की रचना की और अपने मत का प्रचार किया। जब वहां उनके हजारों अनुयायी हो गए तो उन्होंने सोचा कि अपने मत के प्रचार और मूर्ति-पूजा के विनाश के लिए तलवार का भी सहारा लेना चाहिए। सो, दल बनाकर एक हाथ में कुर्आन और दूसरे में तलवार लेकर मक्का पर आक्रमण किया और विरोधियों को हराकर मूर्ति-पूजा का विध्वंस किया और अपना मत चलाया। ऐसा ही अन्यत्र भी किया गया। उन्होंने उपदेश किया कि अल्लाह एक है। उसी की इबादत करनी चाहिए। उन्होंने घोषित किया कि मैं खुदा का पैग़म्बर हूँ और कुर्आन उस अल्लाह का पैग़ाम है जिसे मैं लेकर आया हूँ। जो कुर्आन में कहे गये अल्लाह को, उसके पैग़म्बर (मुहम्मद) को और कुर्आन की किसी भी बात को न मानना है वह "कुफ्र" है और जो भी इस "कुफ़्र" का दोषी है वह "काफ़िर" है और एक मुस्लिम का कर्त्तव्य है कि ऐसे काफ़िर को कत्ल कर दे क्योंकि कुफ्र कत्ल से भी बुरा है[1]।

---

1. इस विषय में शाह रफ़ीउद्दीन देहलवी द्वारा उर्दू में किए कुर्आन के अनुवाद से हिन्दी में अनूदित कुछेक वचन देखिए—

(1) "ऐ लोगो ! निश्चय तुम्हारे पास सत्य के साथ खुदा की ओर से पैगम्बर आया है। बस, तुम उस पर ईनाम लाओ"।

—कुर्आन, मंजिल 1, सिपारा 6. सूरत 4, आयत 170

(2) "आज्ञा मानो अल्लाह की और आज्ञा मानो रसूल की"।

—मं. 21, सि० 7, सू० 51, आ० 92

(3) "जो अल्लाह, फरिश्तों, किताबों, रसूल और क़यामत के साथ कुफ्र करे निश्चय वह गुमराह है॥ निश्चय जो लोग ईमान लाए, फिर काफ़िर हुए, फिर-फिर ईमान लाए, पुनः फिर गए और कुफ़् में बढ़े, अल्लाह उन्हें कभी क्षमा न करेगा और न मार्ग दिखलाएगा। —मं० 1, सि० 5, सू० 4, आ० 136, 137

(4) अल्लाह के मार्ग में लड़ो उनसे जो तुमसे लड़ते हैं॥ मार डालो तुम उनको जहां पाओ, कत्ल से कुफ्र बुरा है॥ यहां तक लड़ो उनसे कि कुफ्र न रहे और दीन हो अल्लाह का"।

—मं० 1, सि० 2, सू० 2, आ० 190; 191; 193

"कुफ़्र" शब्द अरबी भाषा में मूलतः "सचाई को छिपाना" का वाचक था। परन्तु हज़रत मुहम्मद ने इसे अपने मत में पूर्वोक्त अर्थ में परिभाषित कर डाला।[1] इससे सभी मूर्तिपूजक कुफ़्र करने वाले "काफ़िर" कहे गये[2] और "वाजिबुल्क़त्ल" अर्थात् क़त्ल के दोषी ठहराये गये। वे या तो इस्लाम का वरण करें, नहीं तो मौत के घाट उतार दिये जायेंगे। यही हुआ। फलस्वरूप मुहम्मद के बाद केवल 20 वर्षों में ही मिस्र एवं टर्की से लेकर अफगानिस्तान तक के विशाल प्रदेश में इस्लाम की पताका फहराने लगी जिसमें मूर्ति-पूजक बौद्धों का नामोनिशान न रहा। जो मूसा के अनुयायी यहूदी

---

(5) "ये अल्लाह की हद्दें हैं जो अल्लाह और उसके रसूल का कहा मानेगा वह बहिश्त में पहुँचेगा जिसमें नहरें बहती हैं और यही बड़ा प्रयोजन है।

जो अल्लाह और उसके रसूल की आज्ञा-भङ्ग करेगा और उसकी हद्दों से बाहर हो जायेगा और वह सदैव रहने वाली आग में जलाया जायगा और उसके लिए करने वाला दुःख है।

—मं०1, सि० 4, सू० 4, आ० 13; 14

(6) बस, जब तुम मिलो उन लोगों से कि काफ़िर हुए, बस मारो गर्दन उनकी यहां तक कि जब चूर कर दो उनको, बस, दृढ़ करो क़ैद करना"। —मं० 6, सि० 26, सू० 47, आ० 4

ऐसे ही वचन कुर्आन में बहुत हैं।

1. देखिए Thomas Patrick Hughes कृत Dictionry of Islam में

'Kufr' : "*literally*, that which covers the truth".
'Infidelity, blasphamy, disbelieving in the Qur'ān or in any of the tenets of the Muslim religion.

The word (Kufr) is generally used by the Muhammadans to 'define' one who is an unbeliever in the ministery of Muhammad and his Qur'ān and in this seems to have been used by Muhammad himself.

2. वहीं, 'Kāfr' : "Kāfrs are those who are idolaters".

और ईसा के अनुयायी ईसाई यद्यपि "काफिर" ही होते हैं परन्तु न तो उनका बलात् इस्लामीकरण किया गया और न ही उनका वध किया गया और न उनके पूजा-स्थानों को छेड़ा गया। वे केवल जजिया-नामक कर को देने वाले माने गये। "काफिर" होने पर भी यहूदी और ईसाइयों को ऐसी छूट इसलिए मिली क्योंकि इनके पैग़म्बर मूसा और ईसा को कुर्आन में पैगम्बर और उनके मौजिजों को स्वीकार किया गया था[1]। सन् 651 ई० में अरबों द्वारा ईरान की बरबादी की गई। उससे बचे हुए कुछ पारसियों का विनाश पहले मुसलमान तुर्कों ने किया। बाद में मंगोलों के कोप से बच कर उन्होंने भारत में शरण ली जो गुजरात और बम्बई में आज भी विद्यमान हैं। इस प्रकार मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् के सौ वर्षों में ही मिस्र से लेकर अफगानिस्तान तक के विशाल प्रदेश पर इस्लाम का साम्राज्य स्थापित हो गया। और 'काफिरों' से विहीन कर दिया गया।

---

1. कुर्आन में मूसा और ईसा की पैग़म्बरी और उनके मौजिजों (=चमत्कार वा दैवी शक्तियों) के कुछ उल्लेख :

(1) "हमने मूसा को किताब और मौजिजे दिये हैं"।

—मं० 1, सि० 1, सू० 2, आ० 53

(2) "वही की हमने तर्फ़ मूसा की, यह कि ले चल रात को बन्दों मेरे को, निश्चय तुम पीछा किए जाओगे"।

—मं० 5, सि० 19, सू० 26, आ० 52

(3) "निश्चय हमने मूसा को किताब दी और उसके पीछे पैग़म्बर को लाए और मरियम के पुत्र ईसा को प्रकट मौजिजे दिए। उसके साथ रूहिलकुद्स (=जिबराईल) के"।

—मं० 1, सि० 1, सू० 2, आ० 87

(4) "अल्लाह, फरिश्तों, पैग़म्बरों, जिबराईल और मीकाईल का जो शत्रु है अल्लाह भी ऐसे काफ़िरों का शत्रु है।

—मं० 1, सि० 1, सू० 2, आ० 98

III

भारत में हिन्दु शब्द और इसका अर्थ

अभी पीछे यह प्रतिपादन किया गया है कि हिन्दु शब्द अरब देश में पारस से आया परन्तु कुर्आन की मान्यता के अनुसार इस्लाम मत वालों ने इसे घृणास्पद अर्थ दे डाला। ये ही अरब के मुस्लिम मुहम्मद बिन-कासिम के नेतृत्व में सिन्ध प्रदेश में आठवीं शताब्दी ई० के आरम्भ में (710-14) जब प्रविष्ट हुए और वहाँ के निवासी तथा शासकों को पराजित करके सिन्ध प्रदेश को अपना उपनिवेश बना लिया। तभी उन्हीं अरबी मुसलमानों के द्वारा भारत-भूमि में "हिन्दु" शब्द का प्रयोग भारतवासियों के लिए प्रचलित हुआ। यह पहले ही बताया जा चुका है कि "हिन्दु" या "हिन्द" शब्द पारसी भाषा का है, किसी भी भारतीय भाषा का नहीं है— भले ही इसका मूल निःसन्देह भारतीय संस्कृत-भाषा का "सिन्धु" शब्द ही है।

इन मुसलमानों के भारत में प्रवेश के समय भारत में न तो धार्मिक एकता थी और न ही सामाजिक और राजनैतिक एकता थी। सारा ही भारतीय समाज प्रत्येक दृष्टि से दीर्घकाल से ही इतना खण्ड-खण्ड हुआ पड़ा था कि अपने समूचे भारतीय समाज के लिए एक सामान्य नाम तक भुलाया जा चुका था। तब कोई बौद्ध था तो कोई जैन था या फिर कोई शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत आदि विभिन्न सम्प्रदाय-नाम से अपने को कहता था। या फिर कोई कश्मीरी था तो कोई अपने को पञ्जाबी, सिन्धी, मराठा, बंगाली, मद्रासी आदि बताता था। या फिर अपने किसी जाति-नाम से अपना परिचय देता था। सम्पूर्ण भारतीय समाज के लिए आदि-काल से चला आया नाम जो 'आर्य' था वह एकदम भुलाया जा चुका था। हर दृष्टि से सारा समाज विखण्डित था। इससे एकता के अभाव में उसके लिए एक सामान्य-शब्द की आवश्यकता नहीं रह गई थी। परन्तु जब अरबी मुसलमान भारत में प्रविष्ट हुए तो उन्हें तो देश की एक भौगोलिक एकता के साथ-साथ एक विचित्र एकता अन्य भी दिखाई दी कि ये सभी भारतीय किसी न किसी मूर्ति

के पूजक थे— चाहे जैन हों, बौद्ध हों या शैव आदि विभिन्न सम्प्रदायों के हों। मुसलमानों को इन धार्मिक भेदों को जानने और समझने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उनको यह जान लेना ही पर्याप्त था कि ये सभी इस देश में रहने वाले लोग मूर्तिपूजक हैं और अतएव काफिर हैं और अतएव सभी भारतीयों को अपनी भाषा के आधार पर सभी के लिए "हिन्दु" नाम से पुकारा। अपना सामान्य-शब्द भुला देने से यही सामान्य-शब्द सभी के लिए किसी अवरोध के बिना ही आसानी से चल पड़ा। भारतीय बौद्ध और जैनों को भी आरम्भ में मुसलमानों ने "हिन्दु" शब्द से ही पुकारा था। यह तो केवल अंग्रेज ही थे जिनकी नीति थी कि फूट डालो और राज्य करो। अतः उन्होंने शिव, वैष्णव आदि वर्णाश्रमियों को "हिन्दु" कहा और उनसे पृथक् बौद्ध और जैनों को अ–हिन्दु माना और कुछ समय हुआ कि मैकालिफ़ ने सिखों को भी उनसे पृथक् प्रसिद्ध किया और अब ये भी अपने आपको पृथक् ही मानने लगे हैं ! यह तो दूसरी कहानी है। अस्तु।

आठवीं ईस्वी शताब्दी के आरम्भ में भारत के सिन्ध-प्रदेश को अपना उपनिवेश बनाकर रहने वाले अरबी मुसलमानों ने जब सभी भारतीयों को एक सामान्य नाम "हिन्दु" से सम्बोधित किया तो उनका "हिन्दु" शब्द काफिर, डाकू, चोर आदि कुत्सित अर्थ को लेकर ही किया, केवल 'भारतीय' अर्थ को लेकर नहीं। उस समय फारस (ईरान) का भी पूर्ण इस्लामीकरण हो चुका था। अतः वहां भी इस्लाम की वासना के अधीन "हिन्दु" शब्द काफिर, डाकू, बटमार आदि निन्दित अर्थ को लेकर प्रचलित हो चुका था। फारसी भाषा के शब्दकोश ग़यासुल्लुग़ात में "हिन्दु" शब्द का अर्थ "काला, काफिर, चोर, बदमाश, बटमार, मस्सा, छछून्दर" लिखा है। भारत में ही जन्मी उर्दू भाषा के शब्द-कोश "करीमुल्लुग़ात" में भी हिन्दु शब्द का अर्थ इसी प्रकार का लिखा है। इसी प्रकार सईदुल्लुग़ात (सन् 1940) में लिखा है— "हिन्दू : हिन्दुस्तान की बाशिन्दा कौम जो बुतों को पूजती है, हिन्दुस्तान का रहने वाला, चोर, राहजन, लुटेरा, गुलाम, हब्शी, काला आदमी।" इससे पूर्व छपी (सन् 1931 ई०, लाहौर) फ़िरोज़ुल्लुग़ात में भी यही अर्थ हैं। ज़वाहरुल्लुग़ात नामक फ़ारसी

के शब्दकोश (प्रकाशक— सैयद सखावत हुसैन अख्त्यारअली, सब्जी मण्डी, आगरा) में भी लगभग यही अर्थ किया गया है।

सो, जब पहले अरब मुसलमानों ने सिन्ध को अपना उपनिवेश (712 ई०) बनाया तब वे भी घृणित अर्थ वाले "हिन्दु" शब्द को साथ लेकर आये। उसके पश्चात् तुर्क मुसलमान 11वीं शती तथा 12वीं शती में पञ्जाब की ओर से आये तब वे भी हिन्दू शब्द का प्रयोग घृणित अर्थ को लेकर ही आये थे। कारण, इस्लाम की कुफ़्र और काफ़िर की दूषित भावना ही थी। सो, भारत में हिन्दू शब्द जब भी आया मुसलमानों के द्वारा ही दूषित अर्थ को लेकर ही आया। इसका प्रमाण यही है कि 8वीं शती ई० से पूर्व भारत की किसी भी भाषा में "हिन्दू" और "हिन्दुस्तान" शब्दों का प्रयोग नहीं है जबकि फारस और अरब आदि देशों में इसका प्रयोग पर्याप्त काल पूर्व से प्रचलित चलता रहा था। भारत में हिन्दु और हिन्दुस्थान का सर्वप्रथम लिखित प्रयोग 12वीं शती के उत्तरार्द्ध में राजा पृथ्वीराज चौहान के दरबारी कवि चन्दरवरदाई के "पृथ्वीराज रासो" से प्राप्त होता है[1], इससे पूर्व नहीं।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि "हिन्दु" नाम भारत में आठवीं शताब्दी ईस्वी के आरम्भ से पूर्व अज्ञात था। भारत में यह नाम प्रथमतः अरब के आक्रमणकारी मुसलमानों ने सिन्ध प्रदेश को अपना

---

1. कवि चन्दरवरदाई के पृथ्वीराजरासो में प्रयुक्त "हिन्दु" शब्द —

(i) किए सलाम तिन बार, जाहु अपने सुथानहं।
मति हिन्दु पर ताहि, सज्जि आवो स्व-स्थानहं॥

(ii) निर्लज्ज म्लेच्छ लाजै नहीं, सम हिन्दू लजवान।

तुर्क मुसलमानों के भारत पर आक्रमण 11-12वीं ई० शती में हुए। 12वीं शती के उत्तरार्द्ध में लिखित 'पृथ्वीराज रासो' में हिन्दु शब्द के प्रयोग से यही प्रतीत होता है कि यह नाम चन्दरवरदाई की भाषा में कुछ समय पूर्व ही प्रतिष्ठित हो चुका था। अतः यह मानना उचित प्रतीत होता है कि यह नाम 8वीं शती के आरम्भ में आये अरबी 'मुसलमानों' के द्वारा ही भारत में लाया गया।

उपनिवेश बना लेने पर प्रचलित किया। तदनन्तर 11–12वीं शताब्दी में पश्चिमोत्तरी पञ्जाब से जो तुर्क आये वे भी मुसलमान ही थे। इन मुसलमान आक्रमणकारियों ने ही यह नाम हमारे लिए प्रयुक्त किया। अतः इस नाम को अपनी ही परम्परा का बताना सरासर मिथ्या है। यह इतिहास से विरुद्ध है। भाषा–विज्ञान से भी विरुद्ध है। अभी तक के सभी भाषाओं के शब्द-कोशों में भी इस नाम को पर्शियन भाषा का ही स्वीकार किया गया है। इतना सब होने पर भी जब एक "स्वाध्याय, चिन्तन, मनन के स्वभाव वाला" संन्यासी न केवल प्रमाण-विरुद्ध दावा करे बल्कि इसके लिए आग्रह भी करे तो मत-विशेष से अथवा दल-विशेष से प्रेरित होकर ही किसी स्वार्थ-वश ऐसा करेगा, सत्य से प्रेरित होकर नहीं।

आर्य नाम ही उचित है—

अतः स्वामी दयानन्द सरस्वती का यह कथन प्रमाण-सिद्ध एक तथ्य है कि हिन्दू और हिन्दुस्थान ये नाम मुसलमानों ने ही हमें दिए हैं और काफिर, चोर आदि बुरे भाव को लेकर प्रयुक्त हुए हैं। इसके विपरीत, यह भी इतिहास से सिद्ध होता है कि आदि-काल से ही चला आता हमारा नाम "आर्य" है और हमारे देश का नाम "आर्यावर्त्त" है। चूँकि "आर्य" और "आर्यावर्त्त" शब्द हमारे हैं, सृष्टि के आरम्भ से ही चले आ रहे हैं और इनका अर्थ भी श्रेष्ठ है और इसके विपरीत "हिन्दू" एवं "हिन्दुस्तान" शब्द हमारी भाषा-परम्परा के नहीं, प्रत्युत फ़ारसी एवं अरबी भाषा के शब्द हैं, इनके अर्थ भी उनकी ही भाषा में अत्यन्त अपमानजनक अर्थ में मुसलमानों के द्वारा माने गये हैं अतः उनके इन नामों को छोड़कर अपनी ही भाषा के आर्य तथा आर्यावर्त्त नामों का ही प्रयोग करना सर्वथा युक्ति-युक्त तथा समुचित है। परमगुरु परमेश्वर से प्राप्त हुए अपौरुषेय वेदों की आज्ञा के अनुसार हमारा नाम "आर्य" है और इससे विपरीतार्थक नाम "दस्यु" है। वेद में ही दस्युओं को "अव्रत" कहने से अर्थापत्ति प्रमाण से आर्यों को "सव्रत" कहा गया है। और साथ ही, "व्रत-रहित" अथवा "व्रत-विरुद्ध" आचरण करने वाले इन दस्युओं को शासनीय और "सव्रत" आर्यों को इन पर शासन करने वाला भी

कहा गया है[1]। वेदों में "सत्य" आदि आचरणों को ही (अर्थात् धर्माचरण को ही) "व्रत" बताया गया है।[2] तदनुसार, सत्य आदि धर्माचरण करने वाले आर्य और इसके विपरीत आचरण वाले "दस्यु" ठहरते हैं। यहीं धर्माचरणी आर्यों को शासक और अधर्माचरणियों को शासनीय भी कहा है। "शासन" सदा ही "विद्या" और "सुशिक्षा" के द्वारा होता है। ऐसा सम्भव न हो सके तो "दण्ड-प्रयोग" से होता है। समाज में विद्या और सुशिक्षा के द्वारा लोगों को अपने "शासन" के द्वारा "शिष्ट" (=शासित) बनाने वाले मनुष्य-समुदाय को वेदों में "ब्रह्मन्"=ब्राह्मण कहा है और "दण्ड-प्रयोग" के द्वारा लोगों को शासित करने वालों को "क्षत्र"=क्षत्रिय नाम से पुकारा है और परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि हमारे समाज में "ब्रह्मवर्चसी" ब्राह्मण और महारथी योद्धा क्षत्रिय पैदा होते रहें[3]। इसके लिए यह अनिवार्य है कि समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चार वर्णों में सुव्यवस्थित किया जाय। और चूंकि इस वर्ण-व्यवस्था का मूल "ब्रह्मचर्य" आश्रम ही है, एकमात्र यही वेदोक्त वर्ण-व्यवस्था का मूल स्रोत है, अन्य मार्ग नहीं है, अतः प्रथम गुरुकुल में ब्रह्मचर्य, तत्पश्चात् ही गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास नामक वेदोक्त आश्रमों का होना भी अति आवश्यक हो जाता है; अन्यथा वर्ण-व्यवस्था दूषित होकर छिन्न-भिन्न अवश्य हो जायगी, जैसी कि वर्तमान में एक लम्बे समय से यह (व्यवस्था) छिन्न-भिन्न होकर दूषित हो चुकी है। वर्णाश्रम-व्यवस्था के द्वारा सुव्यवस्थित करना एकदम अनिवार्य है, इसके बिना और कोई मार्ग नहीं है कि

---

1. ऋग्वेद 1. 51. 8 :

   विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
   शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन॥

2. यजुर्वेद 1. 5 :

   अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
   इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥

3. वहीं, 22. 22. : आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिरथो जायताम्...... ।

जिससे मनुष्य-समाज को सुखी तथा परमार्थी बनाया जा सके। यही कारण है कि वेदोक्त आर्यों का सामाजिक-धर्म वर्णाश्रम-धर्म माना गया है और अहिंसा आदि एकादश-लक्षणक धर्म को प्रत्येक वर्णी और प्रत्येक आश्रमी के लिए घोषित किया गया है[1]। इसी से मनुष्य-जन्म के अभीप्सित चार पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सिद्ध हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

इसी प्रकार यह सारा का सारा श्रेष्ठ अर्थ "आर्य" इस वैदिक नाम में सार-गर्भित रूप से विद्यमान है। यह स्पष्ट है हिन्दुम्मन्य लोगों को अभिमत "हिन्दु" नाम में कुछ भी विशेष नहीं है। यदि हिन्दु शब्द के दूषित अर्थ को छोड़ दें तो भी एकमात्र अर्थ "भारतवासी" ही कहा जा सकता है। वह भी विदेशी फारसवासियों की भाषा में ही होगा न कि भारतीय किसी भी भाषा-परम्परा में। जब भारतीय भाषा का शब्द नहीं तो उसके शब्द-कोष में इसका कोई अर्थ कैसे हो सकता है? सो, हिन्दुम्मन्य लोग चिन्तित हो गये और अपनी-अपनी कल्पित भावना को लेकर इसे परिभाषित करने लगे। कोई जैन और बौद्ध अथवा अन्य किन्हीं वेदनिन्दक नास्तिकों को अपने हिन्दु—नामक कठघरे में रखने का इच्छुक नहीं हुआ तो हिन्दु को स्व-कल्पित परिभाषा में "प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु" की शर्त लगा दी। परन्तु साथ ही भिन्न-भिन्न अनेक देवों की उपासना की बात करके वेद-प्रामाण्य की रस-चाशनी में पुराण-गोबर डालकर सारा गुड़ नष्ट-भ्रष्ट कर डाला[2]। किसी दूसरे ने जैन, बौद्ध वा अन्य नास्तिकों को भी हिन्दू के बाड़े में शामिल करने की दृष्टि से, धर्म को एक ओर फेंक कर, भारत-भूमि को पितृ-भूमि तथा पुण्य-भूमि मानने

---

1. मनुस्मृति 6, 92 के दश लक्षणों के साथ अहिंसा को जोड़ कर एकादश-लक्षणी धर्म के लिए देखिए—उपदेशमञ्जरी, बहालगढ़, 1969 संस्करण, पृ० 14-17।

2. हिन्दु की कल्पित परिभाषा—

   प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु नियमानामनेकता।
   उपास्यानामनियमो हिन्दु-धर्मस्य लक्षणम्॥

   यह लक्षण लोकमान्य तिलक जी का बनाया हुआ बताया जाता है।

वाले को ही "हिन्दु" मानने का आग्रह प्रस्तुत किया[1]। तो किसी ने गौ माता के भक्त को, किसी ने ओंकार को स्वीकार करने वाले को, तो अन्य किसी ने पुनर्जन्म को मानने वाले को ही हिन्दू कहा[2]। ये परिभाषाएँ "कल्पित" होने से निर्मूल तो हैं ही— एक दूसरे को काटती भी हैं। किसी एक को ही मान्य करने में कल्पना के अतिरिक्त अन्य कोई मूल नहीं है। अतः बुद्धिमान् को स्वीकार्य नहीं हो सकती। जैसे भूमि में मूल से रहित अमरबेल अन्य वृक्षों पर आश्रित होकर जीवित रहती है वैसे ही भारतीय-परम्परा में मूल से रहित हुआ "हिन्दु" शब्द भी विदेशी मुसलमानों के शब्द-कोशों में कथित अर्थ-रस से ही अस्तित्व-यापन कर सकता है। और जो भी वैदेशिक अर्थ-रस है उसकी अपमानजनकता का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसको जानकर कोई भी स्वाभिमानी व्यक्ति इसे अपना नाम कैसे स्वीकार कर सकता है। सो, इसे छोड़कर सत्याचरण आदि सत्य व्रतों के धारण-कर्त्ता रूप श्रेष्ठार्थ के वाचक आर्य नाम को ही स्वीकार करना सर्वथा उचित है। परमेश्वर की आज्ञा-स्वरूप होने से सर्वोपरि प्रमाणभूत वेदों को भी यही नाम अभिमत है। अतः आर्य नाम अवश्य स्वीकार्य है। इस गुणवान् नाम के रहते दोषकारक हिन्दु नाम अवश्य त्याज्य ठहरता है।

IV

आर्य नाम पर आपत्तियों की समीक्षा

अब श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी की उन छुटपुट आपत्तियों और युक्तियों पर विचार करते हैं जो "हिन्दु" नाम के समर्थनार्थ प्रस्तुत

---

1. श्री स्वातन्त्र्य-वीर सावरकर-कृत हिन्दु-लक्षण—

   आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
   पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

2. स्वामी करपात्रीकृत लक्षण—

   गोषु भक्तिर्भवेद् यस्य प्रणवे वा दृढा मतिः।
   पुनर्जन्मनि विश्वासः स वा हिन्दुरिति स्मृतः॥

की गई हैं। वस्तुत: ये ही बातें यत्र तत्र "आर्य" नाम के विरुद्ध हिन्दुम्मन्य नेताओं से सुनने में आती हैं। इसी दृष्टि से विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। यथा—

(1) अब श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी "हिन्दु" नाम के प्रयोग के लिए कहते हैं—

"मेरा मानना है कि हिन्दू शब्द का यह अर्थ (काला, काफिर आदि) जिन लोगों के द्वारा किया गया है वे हिन्दु-विरोधी रहे हैं और अपने विरोधी को हर कोई अपने से हीन समझता है। मुसलमानों के दृष्टिकोण में तो आर्य भी ग़ैर-मोमिन हैं। तो क्या किसी के आर्य का अर्थ चोर या काफिर कर देने से स्वामी दयानन्द अपने आप को आर्य कहना छोड़ देते? क्या आज के आर्यसमाजी अपने आपको आर्य कहना छोड़ देंगे? अगर आर्यसमाजी अपने आप को आर्य कहना नहीं छोड़ सकते तो हिन्दु कहलाने वाले किसी के द्वारा हिन्दू शब्द का विकृत अर्थ करने से अपने आप को हिन्दू कहना क्यों छोड़ देंगे" ?

समीक्षा :

स्वामी विज्ञानानन्द जी को भ्रान्ति है कि "आर्य" नाम के समान "हिन्दू" नाम भी हमारा अपना ही नाम है, मुसलमान विदेशियों के द्वारा दिया गया नाम नहीं है। इसी कारण वे हिन्दू नाम के छोड़ने पर आर्य नाम को भी छोड़ने की आपत्ति कर रहे हैं। आर्य नाम हमारा अपना नाम है। वेदों के आधार पर आदि-काल में ही ऋषि-मुनियों के द्वारा हमें दिया है जबकि "हिन्दू" नाम "विरोधी", "विदेशी", 'विधर्मी" मुसलमानों के द्वारा हमें उस समय दिया गया है, जब आठवीं शताब्दी में भारत को उन्होंने अपना उपनिवेश बनाया। आर्य शब्द हमारा हमारी भाषा का है अत: उसके अर्थ का निर्णय हमारी भाषा के शब्द-कोशों से ही हो सकता है। "हिन्दू" शब्द जिस भाषा का है उस भाषा के शब्द-कोश ही उसके अर्थ के निर्णायक हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। स्वामी विज्ञानानन्द जी कहते हैं कि हिन्दू-विरोधी ने हिन्दू नाम का अर्थ विकृत (काफिर, चोर आदि) कर दिया। तो इसका अच्छा अर्थ क्या है? किसी अपनी भाषा के कोश में से अच्छा अर्थ सोदाहरण दिखाना था।

दिखाते तो तब जब यह अच्छा अर्थ होता। मिथ्या दावे करते जाने से कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

आज के विदेशी इतिहासकारों और उनके अनुयायी भारतीय ऐतिहासिकों के द्वारा "आर्य" शब्द का अर्थ नाक-नक्श के आधार पर जाति-विशेष (race) या कल्पित-भाषाविज्ञानानुसार इसका अर्थ "कृषक" किया जाता है तो यहाँ के शब्द-कोशों के विरुद्ध होने से कदापि स्वीकार्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार "हिन्दू" शब्द का अर्थ हिन्दुम्मन्य लोग अपनी इच्छा से अन्यथा करने लगें तो फारसी तथा अरबी भाषा के शब्द-कोशों के विपरीत होने से ऐसा करना हास्यास्पद एवं निरर्थक ही रहेगा। स्वामी विज्ञानानन्द जी ने मुसलमान शब्द के विषय में किसी इतिहासकार डी० एस० मारगोलिथ के अनुसार कहा है कि यह शब्द पहले निन्दित अर्थ में था परन्तु मुसलमानों के विजेता होने पर सभी ने इसे श्रेष्ठ अर्थ में लेना स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार हिन्दु शब्द भी निन्दित अर्थ वाला क्यों न हो, हमारी श्रेष्ठता से श्रेष्ठ अर्थ वाला हो जायगा। स्वामी जी का यह कथन विना विचारे ही किया गया है। "मुस्लिम" शब्द अरबी भाषा का है और जिस धातु से बना है उसका अर्थ "समर्पण करना" है। इससे "मुस्लिम" शब्द का मूलार्थ है— "(अल्लाह के प्रति) समर्पण करने वाला"[1]। यही कारण है कि मुस्लिम लोग नमाज करने के लिए जिस कपड़े आदि को बिछा कर उस पर नमाज करते हैं, उसे "मुसल्लह" कहते हैं अर्थात् जिस पर (अल्लाह के प्रति) समर्पण किया जाय। मारगोलिथ की तथाकथित पुस्तक मुझे पढ़ने के लिए प्राप्त नहीं हो सकी परन्तु पूर्ण सम्भावना है कि जब मुहम्मद साहिब ने मक्का शहर के निवासी बुतपरस्त (बुद्ध की मूर्तियों के पूजक बौद्ध) लोगों की मूर्ति-पूजा का विरोध किया क्योंकि उन मूर्ति-पूजकों की मूर्ति-पूजा के प्रति न केवल आस्था ही थी बल्कि उनकी इससे आजीविका भी होती थी। इससे वे मुहम्मद के प्राणों को भी लेने के लिए उतारू हो गये। तब मुहम्मद वहां से भाग

---

1. देखिये : Wevster's Seventh New Collegiate Dictionary ; '*Muslim* : (Arbic), literally, one who surrenders (to God)'.

कर मदीना में चले गये। वहाँ उनके मत के हजारों लोग अनुयायी बन गये। तभी वहाँ ही मुहम्मद ने अपने मत की स्थापना की और कुआन की रचना भी की। तभी मुहम्मद ने अपने अनुयायिओं को "मुस्लिम" नाम भी दिया जिसका अर्थ था कि जो अपने आपको अल्लाह के प्रति समर्पण करे। परन्तु क्योंकि मक्का के निवासियों का इनसे विरोध हुआ तो मक्का के मूर्ति-पूजक अरबी लोगों ने मदीना के मुहम्मदी अरबों के लिए ही प्रयुक्त "मुस्लिम" शब्द को (जो अपने आपको "मुस्लिम" नाम से प्रसिद्ध करते थे) "गद्दार" आदि निन्दित अर्थ को लेकर प्रयुक्त किया तथा क्योंकि मुहम्मद स्वयं मक्का के मूर्ति-पूजक बौद्धों के कुरैशी कबीले में ही पैदा हुए थे, अतः स्वभावतः संगत था कि मक्का वाले मूर्ति-पूजक, मुहम्मद तथा उनके अनुयायी "मुस्लिमों" को "गद्दार" आदि दूषित अर्थ प्रदान करें। जब मुहम्मद आदि मदीना वाले "मुस्लिमों" ने मूर्ति-पूजक मक्का वालों को जीत कर उन्हें मुस्लिम-मत में प्रविष्ट करा दिया तो स्वभावतः उनके मन में मुस्लिम शब्द में "गद्दार" आदि की भावना नहीं रही क्योंकि वे अब स्वयं मुस्लिम हो गये थे। उनके मत में मुस्लिम शब्द का मूल अर्थ '(अल्लाह को) समर्पण करने वाला' ही अभीष्ट था। इस दृष्टान्त से स्वामी विज्ञानानन्द जी हमें यह समझाते हैं कि इससे हिन्दु शब्द का मुसलमानों के द्वारा दिया गया दूषित अर्थ अब हटकर प्रशस्त अर्थ का हो गया है। क्वास्ताः क्व निपतिताः! स्वामी जी ने दृष्टान्त के पासे डाले तो थे सीधे कि वे हिन्दू शब्द का प्रशस्त अर्थ प्रसिद्ध करा देंगे परन्तु ये पासे गिरे उलटे!! यदि "हिन्दु" यह शब्द भारतीय भाषा का ही होता और प्रशस्त अर्थ वाला रहा होता जैसे कि "आर्य" शब्द हमारा है और प्रशस्त अर्थ वाला है तब अरब के मुसलमान शब्द का दृष्टान्त देना युक्त होता। परन्तु हम सभी जानते हैं कि "हिन्दु" शब्द हमारा नहीं और जब यहां लाया गया तो किसी प्रशस्त अर्थ को लेकर नहीं लाया गया। अतः अरब देश में "मुसलमान" शब्द के दृष्टान्त को लेकर यहाँ हिन्दु शब्द को प्रशस्तार्थक बना देने की बात करना सर्वथा अयुक्त, बुद्धि-विरुद्ध तथा व्यर्थ है।

(2) स्वामी विज्ञानानन्द जी कहते हैं—

"जो लोग पारसियों द्वारा सिन्धु का हिन्दू बनना मानते हैं तो

वे यह क्यों भूल जाते हैं कि सिन्धु का आधार संस्कृत तथा वेद है हिन्दु का भी वह मूल है"।

समीक्षा :

निस्सन्देह पारसी (फारसी) भाषा के हिन्दु शब्द का मूल सिन्धु शब्द है जो संस्कृत भाषा में अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यथा नदी–विशेष (जो अब पाकिस्तान में बहती है) का, प्रदेश-विशेष का तथा उसमें रहने वाले निवासियों का वाचक रहा है। परन्तु यह सम्पूर्ण भारत तथा भारतवासियों का वाचक नहीं रहा जबकि पारस (फारस) की भाषा में इसका विकृत "हिन्दु" शब्द भारत तथा भारतवासियों का वाचक हुआ। सिन्धु से हिन्दु शब्द ऐसे ही भिन्न है जैसे संस्कृत भाषा से फारसी भाषा भिन्न है। जो अपने सिन्धु शब्द से उत्पन्न होने के मोह से या आसक्ति–वश इसे अपनाने की बात करता है उसे अरब के मक्का के काबा को मुसलमानों की तरह चूमना और उसकी परिक्रमा करनी चाहिए क्योंकि काबा भी भारत की मूर्ति–पूजा का ही एक अन्तत: विकार ही तो है। जिस भाषा के स्वभाव को ग्रहण करके जो शब्द आत्म–लाभ कर सका है वह शब्द अनिवार्यत: उस भाषा का अङ्ग है, किसी अन्य भाषा का नहीं और जिस अर्थ को लेकर वह प्रयुक्त हुआ है वही उस शब्द का अर्थ है। मुहम्मद के पश्चात् अरब के मुस्लिमों और तुर्किस्तान के मुसलमानों ने अपनी-अपनी भाषा में प्रयुक्त "हिन्दु" शब्द का अर्थ उनके शब्द-कोशों के हवाले से बताया जा चुका है। परन्तु कुछ हिन्दुत्व-प्रिय हिन्दु-म्मन्य लोग इस अनिष्ट अर्थ को जान लेने पर भी उसे इस प्रकार झुठलाने की व्यर्थ चेष्टा करते हैं जैसे कोई कबूतर अनिष्ट बिल्ली को सामने देखकर उसे झुठलाने के लिए अपनी आँखें बन्द करने की व्यर्थ चेष्टा करता है कि मेरे न देखने से अब बिल्ली है ही नहीं और इस प्रकार मौत को प्राप्त होता है। हिन्दुम्मन्य लोग भी अपने अपमान में स्वाभिमान ढूंढते हैं और दूसरों को भी उपदेश देते हैं कि "गर्व से कहो कि हम हिन्दु हैं"। अपमान में स्वाभिमान मानना किसी भी देश या जाति के लिए एक विनाशकारी भाव है क्योंकि यह एक उलटी बुद्धि है। ज्ञानी लोग कह भी गये हैं कि **विनाशकाले विपरीत-बुद्धिः।**

श्री स्वामी जी की सेवा में यह भी कहना आवश्यक है कि नित्य सनातन वेद का "सिन्धु" शब्द नदी-सामान्य तथा समुद्र-सामान्य का वाचक है। आज के पाकिस्तान में बहने वाली नदी-विशेष या प्रदेश-विशेष या तन्निवासी लोक-विशेष का वाचक नहीं। हिन्दू शब्द का मूलभूत जो सिन्धु है वह तो अर्थ-विशेष का वाचक है। अतः वेद के सिन्धु शब्द से "हिन्दु" शब्द की रिश्तेदारी जोड़ने की बात ठीक नहीं है।

(3) स्वामी विज्ञानानन्द जी कहते हैं—

"एक दृष्टान्त देता हूँ। थोड़े समय मान लो हिन्दू नाम हमें विदेशी ने दिया और उसका अर्थ विकृत ही है। लेकिन यह शब्द हमारे रक्त में सदियों से बसा है। उदाहरणार्थ आर्यसमाज में एक व्यक्ति पं० घासीराम जी हुए हैं जिन्होंने पं० देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय द्वारा लिखित दयानन्द जी की जीवनी को सम्पादित किया था। पण्डित जी लोक में घासीराम के नाम से प्रसिद्ध हुए। सम्भव है यह नाम उनका बचपन में अोड़-पड़ोस वाले, माँ-बाप या किसी चाचा-ताऊ ने रख दिया हो। वर्षों बाद उनके पढ़े-लिखे बेटे से कोई कहता कि तुम्हारे पिता का नाम उन जैसे विद्वान् व्यक्ति के लिए ठीक सा नहीं लगता या उनकी गरिमा के अनुकूल नहीं है, बचपन में यह नाम किसी दूसरे ने दे दिया था, अब तुम उसे बदल दो। क्या उनके लड़के को अपने पिता का नाम बदल देना चाहिए या वह बदल देगा जो नाम विगत 50 वर्षों से प्रसिद्ध है। ठीक उसी तरह यह हिन्दू नाम हज़ारों वर्षों से हमारे जीवन में रचा-बसा हुआ है यह हमारे स्वाभिमान का प्रतीक बन गया है। क्या इसे हम छोड़ देंगे ?"

समीक्षा :

स्वामी जी ने अपने इस लेख के आरम्भ में लिख दिया है कि "मेरा हिन्दु शब्द पर बहुत आग्रह रहता है"। किसी सच्ची बात के लिए आग्रह (सत्याग्रह) करना गुण है परन्तु प्रमाण-रहित या प्रमाण-विरुद्ध असत्य पर आग्रह (दुराग्रह) करना दोष और दुर्गुण है। सभी के लिए यह बड़े शोक की बात है कि स्वामी जी का आग्रह सत्याग्रह न होकर दुराग्रह मात्र ठहरता है। क्योंकि वे कहते हैं कि यह

मानकर भी कि हिन्दु नाम हमें विदेशियों ने दिया है और यह भी कि यह विकृत (अपमानजनक) अर्थ वाला है फिर भी, इस अपमान-जनक विदेशियों द्वारा हमारे ऊपर थोपे हुए "हिन्दू" नाम को हम कभी नहीं छोड़ेंगे-- यह तो हमारे रक्त में सदियों से बसा हुआ है। धन्य हो स्वामी जी, धन्य हो ! यदि एक बहाना न चले तो दूसरा बहाना ले लेंगे। किसी न किसी बहाने इस दूषित नाम के लबादे को नहीं छोड़ेंगे । किसी तत्त्वदर्शी का वचन है— "बुद्धेः फलं त्वनाग्रहः" अर्थात् हेतु (reason) को देखने वाली बुद्धि आग्रह वाली नहीं होती, क्योंकि बुद्धि के होने का फल ही यह है कि व्यक्ति आग्रही न बने, बुद्धिमान् बने, युक्ति और प्रमाण से जो ठीक सिद्ध हो उसी को स्वीकार करे। परन्तु, लगता है, स्वामी जी को इससे कोई सरोकार नहीं है। अस्तु। कोई भी शब्द किसी के रक्त में नहीं बसा होता। अपने अपमान को समझने वाले स्वाभिमानी को अपमान-जनक बात से किनारा करते क्षण-भर की देर नहीं लगती। परन्तु दुराग्रह के दलदल में फँसी बुद्धि को क्या कहा जाय ? वह तो उलटी होने से स्वापमान को भी "स्वाभिमान" समझती है। हमारी तो कृपालु प्रभु से प्रार्थना है कि वह स्वामी जी को असत्य को छोड़ने और सत्य को ग्रहण करने की आर्योचित सामर्थ्य प्रदान करे।

स्वामी जी कहते हैं कि आर्यसमाजी प्रसिद्ध लेखक पं० घासीराम के नाम का उदाहरण हमें बताता है कि नाम कुछ विकृत अर्थ वाला क्यों न हो, उसे छोड़ना उचित नहीं है। जो नाम 50 वर्ष से प्रसिद्ध चला आ रहा है उसको लोग बदलने के लिए तैयार नहीं हैं तो हजारों वर्षों से चले आये हिन्दु नाम को क्यों और कैसे छोड़ दें ।

श्री स्वामी जी ने "हिन्दु" नाम को न छोड़ने के लिए जो दलील पेश की है वह एकदम निराधार और बेतुकी है। दैनिक समाचार-पत्रों में प्रतिदिन कितने ही लोग अपने नाम का पूर्णतः अथवा अंशतः परिवर्तन करके नया नाम घोषित करते हैं। आज 23 सितम्बर 1995 है। आज के ही चण्डीगढ़ से प्रकाशित "सिटी एडीशन" के अंग्रेजी के ट्रिब्यून के पृष्ठ 7 पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होगा कि वहां 17 व्यक्तियों ने माँ-बाप, पुरोहित आदि द्वारा उन्हें दिये नाम को छोड़ कर नया नाम घोषित किया है। यह प्रायः नित्य का कार्य है

जो सर्वत्र पाया जाता है। श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी तो इस तथ्य से जानूं (ज्ञानवान्) अवश्य होने चाहियें। मुझे स्वामी जी के पूर्व आश्रम के नाम का कोई ज्ञान नहीं है। परन्तु पक्का विश्वास है कि संन्यास धारण करने के समय आपने भी अपने माँ-बाप आदि के द्वारा दिया गया अपना नाम बदला है। गुड़ के मीठे-मीठे गुलगुले स्वयं खाकर भी दूसरों को मना करना तो स्वामी जी जैसे चतुर्थाश्रमी के लिए शोभा की बात कतई नहीं जँचती।

स्वामी दयानन्द तथा उनके अनुयायी आर्यसमाजी किसी मां-बाप आदि द्वारा दिये नाम को छोड़ने की बात नहीं करते बल्कि विदेशियों, विधर्मियों के द्वारा थोपे हुए अपमान-जनक नाम के लबादे को उतार फेंक देने तथा अपने ही पूर्वजों के द्वारा दिये गये श्रेष्ठ अर्थ वाले "आर्य" नाम को धारण करने की प्रेरणा करते हैं। इस प्रकार पं० घासीराम जी का जो उदाहरण आपने प्रस्तुत किया है वह तो हमारे आर्य नाम के अनुकूल पड़ता है, आपके हिन्दु नाम के अनुकूल नहीं। आर्य नाम तो हमें हमारे ही पूर्वज ऋषि-मुनियों ने सृष्टि के आरम्भ में ही परमेश्वर-प्रदत्त वेदों को देखकर प्रदान किया था और आज तक यथाकथञ्चित् चलता आ रहा है। परन्तु हिन्दु-नामक लबादा जो विदेशी विधर्मी लोगों ने आपके ऊपर थोप दिया है वह तो कल की बात है। हां! कल की, सातवीं शताब्दी ईसवी की। उससे पूर्व इस नाम को भारत में सत्ता नाम-मात्र को भी नहीं थी। सो, विदेशी—विधर्मी लोगों के द्वारा थोपे अपमानजनक नाम के तुरन्त छोड़ देने और आर्य नाम के धारण करने में हर एक विवेकी सत्याग्रही को शोभा, स्वाभिमानिता, ईश्वरेच्छा, ईश्वराज्ञा आदि अनेक गुणों का लाभ है। अतः हिन्दू नाम छोड़कर अपने ही ऋषि-मुनियों द्वारा प्रदत्त श्रेष्ठार्थक आर्य नाम को धारण करना ही उचित एवं युक्ति-युक्त है।

(4) स्वामी विज्ञानानन्द जी का कथन है—

"स्वामी दयानन्द कहते हैं कि हम सब आर्य हैं। हमारा भी मानना है कि हम सब आर्य तो हैं ही। (परन्तु) आज कुछ पाश्चात्य कम्युनिष्ट और कुछ हमारे इतिहासकारों द्वारा फैलाये भ्रम के कारण कि आर्य विदेशी हैं, भारत में बाहर से आये हैं। यहां के

मूल-निवासी द्राविड़ हैं, उन्हें खदेड़ कर आर्यों ने उन्हें दक्षिण भारत में भगा दिया। यह सिद्धान्त सत्य नहीं है। दक्षिण के हमारे बन्धु आर्य शब्द से चिढ़ते हैं। वे आन्दोलन-रत रहते हैं। कहते हैं कि हम आर्य नहीं हैं, द्राविड़ हैं। लेकिन उन्हें पूछो कि आप हिन्दु हैं। तब वे भी गर्व से कहते हैं कि हम हिन्दु हैं"।

समीक्षा—

स्वामी जी कहते हैं कि "हम सब आर्य तो हैं ही", परन्तु भारत के दक्षिण के बन्धु इस नाम से चिढ़ते हैं और इसी कारण आन्दोलन-रत रहते हैं। इससे राष्ट्र और जाति की अखण्डता के टूटने का भय है। परन्तु हिन्दु नाम से यह अखण्डता सुरक्षित हो जाती है क्योंकि वे भी गर्व से कहते हैं कि हम हिन्दु हैं। इस प्रकार आर्य नाम को अपनाने में दोष और हिन्दु नाम में गुण है।

तो, स्वामी जी तथा उन जैसे हिन्दुम्मन्य लोग हिन्दु नाम के साथ-साथ आर्य नाम को भी स्वीकार करते हैं कि "हम सब आर्य तो हैं ही"। सो, आपकी दृष्टि में यदि दाक्षिणात्य बन्धु आर्य नाम से चिढ़ते हैं तो हिन्दु नाम को अपनाने पर भी वे चिढ़ेंगे ही क्योंकि इस नाम के साथ ही साथ आर्य नाम को भी आप मानते हैं। सो, देश और जाति की अखण्डता की दृष्टि से "हिन्दु" नाम को मानना हो तो आर्य नाम को सर्वथा तिलांजलि देनी चाहिए थी। परन्तु आप ऐसा तो नहीं करते, आप तो कहते हैं कि "हम सब आर्य तो हैं ही"। इससे स्पष्ट है कि "हिन्दु" नाम रखने में देश-जाति की अखण्डता आप की दृष्टि में नहीं है। यदि होती तो आप आर्य को सर्वथा तिलांजलि देते। वस्तुतः वेदोक्त "आर्य" नाम में ऐसा श्रेष्ठ अर्थ निहित है कि वेद-विरोधी जैन, बौद्ध, पारसी आदि भी इस पर गर्व करते हैं। विडम्बना तो यह है कि ऐसे श्रेष्ठ नाम को उपेक्षित करके हिन्दु नाम की माला जपने में ही कुछ लोग अपने जीवन की कृतार्थता मानने में लगे हुए हैं कि इस से ही देश और जाति का उपकार हो सकेगा। वस्तुतः यह हिन्दु-मृग की मृग-मरीचिका है। सुस्पष्ट तथा सुदृढ़ वेदोक्त आर्यत्व की भावना ही है जो देश और राष्ट्र की नौका को तूफान से निकाल कर अपना

और अन्य सारी मानवता का उद्धार कर सकती है—नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

स्वामी जी यह भी स्वीकार करते हैं कि आर्य और द्राविड़ का विरोध विदेशी तथा उनके अनुयायी इतिहासकार आदि के द्वारा पैदा किया गया है जो सत्य नहीं है, भ्रम-जनित है। सो, यह बड़े आश्चर्य की बात है कि स्वामी जी दाक्षिणात्य बन्धुओं के मन में उत्पन्न इस आर्य-द्रविड़-विषयक भ्रम-रोग के निवारणार्थ हिन्दु नाम को रामवाण औषधी समझते हैं। भ्रम तो एक मिथ्याज्ञान है और यथार्थ ज्ञान से ही विनष्ट होता है। सो, अपने दाक्षिणात्य बन्धुओं को यह यथार्थ ज्ञान कराने की आवश्यकता है कि महाभारत आदि भारतीय इतिहास तथा मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों से एकदम स्पष्ट है कि द्रविड़ लोग आर्यों के क्षत्रियों में से ही हैं, आर्यों से भिन्न नहीं है[1]। इस यथार्थ ज्ञान से ही आर्य-द्रविड़–भ्रम निवृत्त हो सकता है हिन्दु नाम की माला जपने से नहीं (यथा अन्धकार का निवारण प्रकाश से ही होता है)। अतः आर्य-द्राविड़ के भ्रम के निवारणार्थ आर्य और द्रविड़ों में अङ्गाङ्गि-भाव का सच्चा ज्ञान सभी लोगों में प्रचारित कीजिए और हिन्दु नाम की माला छोड़िए।

(5) स्वामी विज्ञानानन्द जी कहते हैं—

"आज भारत से बाहर विदेशों, जैसे वियतनाम (चम्पा), इण्डोनेशिया (जावा, बाली), कम्बोडिया (कम्बोज), मलेशिया (मलय) में लाखों हिन्दू हैं। वे सब वेद, धर्मशास्त्र, रामायण, महाभारत को मानते हैं, वे सब भी हिन्दू हैं और अपने आप को गर्व से हिन्दू कहते हैं। जबकि महर्षि दयानन्द जी की भौगोलिक परिभाषा को लें तो वे आर्य नहीं हैं। हिन्दू कहने मात्र से ही हमसे हजारों किलोमीटर दूर रहते हुए भी हमसे जुड़े हुए हैं" ॥

---

1. मनुस्मृति 10, 43; 44 :

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चौड़-द्रविड़ाः काम्वोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥

समीक्षा—

श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के सिद्धान्त को ठीक तरह न समझने से ऐसा दोष देख रहे हैं। ऐसी बात नहीं है कि आर्यावर्त्त देश की भौगोलिक सीमा में रहने से यहां के निवासी आर्य कहाए गए हैं, प्रत्युत बात यह है कि आर्य लोगों के द्वारा इस देश में आवर्त्तन करने से यह देश "आर्यावर्त" कहा गया है। स्वामी विज्ञानानन्द जी तो गाड़ी के पीछे घोड़ा बांध कर गाड़ी चलाने की चेष्टा कर रहे हैं। गाड़ी के आगे घोड़ा जोतने पर ही गाड़ी विधिवत् चलती है। तो, यह समझिए कि आर्यों के आवर्त्तन से यह देश आर्यावर्त्त कहाया है, यह नहीं कि आर्यावर्त्त नामक देश पूर्व स्थित है और उसमें आवर्तन करने वाले यहां के लोग "आर्य" कहे गए। सो, यह तो घोड़े को गाड़ी के पीछे जोतने की बात स्वामी जी ने कर दी है। भारत में देश-विशेष के नाम उनके निवासियों के आधार पर ही प्रायः रखे जाते रहे हैं। यथा—पंचाल, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, चोल, द्रविड़, कश्मीर, चीन, शक, यवन आदि क्षत्रियों के निवास होने से इन देशों या जनपदों को भी ये नाम प्राप्त हुए हैं। संस्कृत भाषा का व्याकरण बनाने वाले संसार-प्रसिद्ध पाणिनि-मुनि की इस बात में गवाही भी है[1]। अस्तु। हमारा कथन है कि आर्यों के इस देश में आवर्तन से यह देश, आर्यावर्त्त नाम को प्राप्त हुआ है। यहां रहने से आर्य नाम नहीं पड़ा। यह नाम तो तिब्बत प्रदेश में सृष्टि के आरम्भ में रहते ही उन्हें उनके वेदोक्त श्रेष्ठ गुण, कर्म, स्वभाव को देखकर संज्ञाकर्म-कर्त्ता ऋषि-मुनियों ने 'आर्य' नाम दिया जबकि इसके विपरीत गुण-कर्म-स्वभाव वालों को "दस्यु" नाम दिया[2]। स्पष्ट है कि आर्य और दस्यु ये नाम उनके गुण-कर्म-स्वभावानुसार सृष्टि और वेद के समनन्तर आदि-सृष्टि में रखे गए, देश-विशेष के आधार पर नहीं। यही तथ्य स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों तथा उनके अन्य लोगों के लिखे पत्रों से एकदम स्पष्ट है। स्वामी दयानन्द के एक पत्र का उल्लेख कर देना

---

1. पाणिनीय अष्टाध्यायी 4, 2, 69; 81 : तस्य निवासः। जनपदे लुप्।
2. वैशेषिक-दर्शन-सूत्र, 2, 1, 18-19 : संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्। प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः।

आवश्यक प्रतीत होता है। अमेरिका के न्यूयार्क के निवासी तथा थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक हेनरी एस्. आल्काट तथा मैडम एच. पी. ब्लेवेस्टकी ने स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से आर्य-समाज की स्थापना अमेरिका में की तो उनकी सोसायटी के सदस्यों ने उस स्थापित आर्यसमाज के नाम में "आर्य" शब्द पर आपत्ति की कि हम तो "आर्य" नहीं हैं, भारतवासी ही आर्य हैं, अतः यहां "आर्यसमाज" नाम ठीक नहीं है। आल्काट ने इस आपत्ति की सूचना स्वामी दयानन्द को भेजी। तब स्वामी दयानन्द ने ता. 26-7-78 को आल्काट को संस्कृत में पत्र लिखा जिसमें अन्य अनेक बातों के साथ आर्य शब्द की उपर्युक्त अभिप्राय वाली व्याख्या वेदादि-प्रमाणों के द्वारा सिद्ध करके यह बताया कि अमेरिका आदि में आर्यसमाज नाम रखना दूषण नहीं, प्रत्युत भूषण है। वेदोक्त श्रेष्ठ गुण, कर्म, स्वभाव वाले आर्य मनुष्यों का समाज आर्यसमाज है ही; साथ ही आर्यत्व की प्राप्ति के लिए जो समाज हो वह भी आर्यसमाज ही है। अतः आर्यसमाज यह नाम अमेरिका आदि में रखना दूषण नहीं, प्रत्युत भूषण है। यथा—

आर्याणां समाजो या सभा स आर्यसमाजः। दस्युभावत्यागाय आर्यगुणग्रहणाय च या सभा साऽप्यार्यसमाजसंज्ञां लभते। अतः किमा-यातम्। सर्वासां शिष्टसभानामार्यसमाजनामरक्षणं परमं भूषणमस्ति। नाऽत्र काचित् क्षतिरस्तीति विजानीमः ॥

इससे करतलामलकवत् एकदम स्पष्ट है स्वामी दयानन्द के अनुसार गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर आर्य तथा आर्यसमाज आदि नाम सम्पूर्ण भू-मण्डल में प्रयुक्त होने चाहिए। आर्यावर्त्त देश की तो सीमा है, आर्य नाम की सीमा नहीं है। अतः स्वामी विज्ञानानन्द जी का कथन असंगत है।

रही बात यह कि मलय, जावा, बाली आदि देशों के साथ हमारा बन्धुत्व हिन्दू नाम से ही है—सो, यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि भारत के दक्षिणी तथा दक्षिण-पूर्वी भागों से जो लोग मलयेशिया, वियतनाम आदि प्रदेशों में गए और उन्हें अपना उपनिवेश बनाया और राज्य स्थापित किए, वह काल ईसवी प्रथम शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी का है। तब ये भारतीय हिन्दू नाम से भी

परिचित नहीं थे—वे बौद्ध थे, शैव थे, वैष्णव थे। इसी प्रकार अन्य जाति के नाम से अपने को परिचित कराते थे, हिन्दु-नाम से नहीं और किसी न किसी देवता की मूर्ति की पूजा करते थे—ये तथ्य इतिहास-सिद्ध हैं। स्वामी विज्ञानानन्द जी ने जो कहा है कि वे लोग वेद, धर्मशास्त्र, रामायण, महाभारत को मानते हैं तो इन तथाकथित भारतीय ग्रन्थों में भी "हिन्दू" नाम का निशान तक नहीं है। इसके विपरीत, उनके बीच "आर्य" शब्द का उल्लेख बहुमान-पूर्वक विद्यमान है। स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव ने "थाई-भारत संस्कृति-भवन, स्याम" से एक अंग्रेजी-स्यामी पारिभाषिक शब्दावली प्राप्त की थी जो उत्तरप्रदेश के शिक्षा-विभाग से "स्याम की संस्कृत-मूलक शब्दावली" नाम से प्रकाशित की गई थी। उसमें अंग्रेजी के civilisation के लिए स्यामी भाषा का पर्याय "आर्यधर्म" बताया गया है, हिन्दू-धर्म नहीं। इसी प्रकार यहीं civilized people इस अंग्रेजी शब्द के लिए स्यामी भाषा का पर्याय "आर्यजन" बताया गया है, हिन्दू-जन नहीं। इस प्रकार वहां आर्य शब्द श्रेष्ठ अर्थ में प्रयुक्त है, हिन्दु नहीं। ये तो कुछ हिन्दुम्मन्य लोग हैं जो भारत के बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि मूर्तिपूजकों की तरह उन प्रदेशों में भी मन्दिरों, रामलीला आदि को देखकर उन्हें भी "हिन्दु" नाम देते फिरते हैं। यदि यहां के हिन्दुम्मन्य लोग स्वयं को आर्य नाम से पुकारें तो, उपर्युक्त उनके आर्यधर्म, आर्यजन आदि शब्दों से प्रकट है कि हमारा उनके साथ आत्मीय-सम्बन्ध निश्चय से प्रगाढ़ स्थापित हो सकेगा, हिन्दु नाम से नहीं। वे तो "हिन्दु-धर्म, हिन्दुजन" जैसे आपके शब्दों को पसन्द नहीं करते—आर्यधर्म, आर्यजन कहना पसन्द करते हैं। अतः हजारों किलोमीटर दूर रहने वालों के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध "हिन्दू" नाम से ही होने की बात एकदम बे-बुनियाद ही है।

(6) स्वामी विज्ञानानन्द जी का कथन है—

"मेरा मानना है कि ··· ··· भारत के प्राचीन निवासियों के नाम व सम्बोधन आर्य एवं आर्यावर्त्त के रूप में था, यहां कालान्तर में भारत एवं भारतीय और हिन्दू एवं हिन्दुस्तान के रूप में हुआ। यहां के निवासियों के प्राचीन नाम एवं संबोधन भी रहेंगे। उनकी महत्ता है। लेकिन आज वर्तमान में हिन्दू और हिन्दुस्तान ही

प्रासङ्गिक हैं। आज इसी सम्बोधन ने "हमारे देश के निवासियों" की विभिन्न वेश-भूषा, खान-पान, रीति-रिवाज के बावजूद एक-दूसरे को एक सूत्र में जोड़ रखा है। आज इसी सम्बोधन में इस देश एवं जाति की एकता, अखण्डता तथा शक्ति निहित है।"

समीक्षा—

स्वामी जी एक ही सांस में परस्पर-विरुद्ध बात करते हैं। वे यहां समुच्चयार्थक "भी" शब्द का भी प्रयोग कर रहे हैं, साथ ही दूसरे को अलग करने के लिए "ही" शब्द भी बोलते हैं— "यहां के निवासियों के प्राचीन नाम एवं सम्बोधन आर्य एवं आर्यावर्त्त तथा भारत एवं भारतीय भी रहेंगे— लेकिन आज वर्तमान में हिन्दू और हिन्दुस्तान ही प्रासङ्गिक है"। भी कहने से "आर्य एवं आर्यावर्त्त, भारत एवं भारतीय और हिन्दू एवं हिन्दुस्तान" इन तीन जोड़ों का ग्रहण होता है और "ही" कहने से केवल एक ही जोड़े का (हिन्दु एवं हिन्दुस्तान का) ग्रहण होता है। तीनों का ग्रहण करने में "एक ही" का ग्रहण विरुद्ध है। "एक ही" के ग्रहण में "तीनों का ग्रहण" विरुद्ध है। प्रथम को मानने पर दूसरा कथन झूठा है, दूसरे को अपनाने पर प्रथम झूठा सिद्ध होता है। इस प्रकार उनके दोनों ही कथन झूठे सिद्ध होते हैं।

स्वामी जी का कथन है कि "आज वर्तमान में 'हिन्दु' और 'हिन्दुस्तान ही प्रासङ्गिक हैं'। इससे स्पष्ट है कि न केवल आर्य और आर्यावर्त्त ही अपितु "भारत" और "भारतीय" नाम भी उन्हें अभीष्ट नहीं हैं क्योंकि वे कहते हैं कि ये हिन्दू और हिन्दुस्तान नाम ही हैं जिनके माहात्म्य से नानाप्रकार की विभिन्नताओं के बावजूद "हमारे देश के निवासियों" को एकसूत्र में जोड़े हुए हैं"। सो "हमारे देश के निवासी" तो मुसलमान, ईसाई, पारसी भी हैं। तो क्या "हिन्दुस्तान" शब्द के समान इन्हें भी आप "हिन्दु" कह रहे हैं? परन्तु ये लोग तो अपने आप को "हिन्दु" नाम से "कहाना" पसन्द नहीं करते। यदि कहें कि हम इनको अपने देश के निवासी नहीं मानते क्योंकि हिन्दु-सभा के संस्थापक हमारे परदादा गुरु श्री सावरकर जी ने इन्हें गौण नागरिक (Secondary Citizens) कहा है तो यह वास्तविकता से और न्याय से एकदम विपरीत है। यदि

माना जाय कि यहां इन मुसलमान आदि को छोड़कर ही हिन्दु नाम से हमें अभिप्रेत हैं तो पहले इन हिन्दुम्मन्य बन्धुओं के लिए स्पष्ट करना चाहते हैं कि "विभिन्नता" कुछ और चीज है और "विरोध" एक अन्य चीज है। आप हजारों विभिन्न इकाइयों को एक इकाई में जोड़ सकते हैं, केवल जोड़ने वाला एक संयोजक अवश्य चाहिए। हजारों ईंटें संयोजक सिमेंट के द्वारा एक विशाल मजबूत भवन के रूप में जुड़ जाती हैं। परन्तु परस्पर विरोधी दो चीजें भी एकत्र नहीं रह पाती। सो, हिन्दुम्मन्यों को विभेद और विरोध में अन्तर समझना है। जिस स्वरूप वाले समुदाय को आप "हिन्दु" नाम से कहते हैं उनमें विभेद नहीं, प्रत्युत पारस्परिक विरोध है। यह विरोध धार्मिक, सामाजिक आदि सभी दृष्टि से विद्यमान है। कुछ लोग निराकार को अभीष्ट देव मानकर उसकी उपासना करते हैं तो कुछ इसके विरुद्ध साकार देवों को मानते हैं। इन साकार देवों में भी परस्पर-विरुद्ध स्वरूप वाले हैं। इनका विवरण विभिन्न कपोल-कल्पित पुराणों से जाना जा सकता है। एक पुराण जिस देव या देवी को उपासनीय कहता है तो उस देव या देवी को सर्वोच्च और अन्यों को नीच, निन्दनीय तथा त्याज्य भी कहता है। जैसे कि देवीभागवत पुराण में देवी को परमेश्वरी और शिव, विष्णु आदि को सेवक बनाया है। विष्णु-पुराण में विष्णु को परमेश्वर और शिव आदि को विष्णु का दास ठहराया गया है। शिवपुराण में शिव को परमेश्वर और इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, गणेश, सूर्य आदि को शिव के दास ठहराया गया है। इसी प्रकार अन्य पुराणों तथा उपपुराणों की स्थिति है। ये विभेद नहीं प्रत्युत विरोध हैं। इन्हें कभी भी एकता में नहीं रखा जा सकता। यह धार्मिक दृष्टि से विरोध का उदाहरणमात्र है। सामाजिक दृष्टि से भी, वेद-विरुद्ध जाति आदि की दृष्टि से ऊँच-नीच की भावना तथा वर्ण-संकरता के कारण समाज असंगठित है। शरीर के किसी अङ्ग में फोड़ा आदि का दुःख पैदा होता है तो सारा शरीर व्यथित हो जाता है। परन्तु हिन्दु नामक समाज-शरीर का कोई अङ्ग यदि कष्ट में फंस जाय तो अन्य किसी भी अंग को किसी प्रकार की चिन्ता तक नहीं होती। उदाहरण के लिए आजकल कश्मीर के विस्थापित पण्डित-समुदाय को ले लीजिये। इतनी बड़ी संख्या के हिन्दु-समाज में थोड़े से

कश्मीरी-पण्डित दुःख-त्रस्त हैं परन्तु दूसरे अंग इससे दुःख का अनुभव नहीं करते। क्या इस समाज को एकता में बंधा हुआ माना जा सकता है? यदि हिन्दुनाम-मानो हमारे बन्धु कहें कि इन धार्मिक, सामाजिक विरोधों के दोष को दूर कर देना चाहिए क्योंकि शरीर में जब रोग पैदा हो जाता है तो चिकित्सा से उसे दूर किया जाता है। तो हम भी यही कहते हैं कि दोष को दूर करना अत्यावश्यक है। जैसे परस्पर विलग-विलग धागे ताने-बाने के रूप में जुड़कर एक सुसंठित और मजबूत पट-रूप एक इकाई में परिणत हो जाते हैं, वैसे ही वेदोक्त गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार वर्णों और आश्रमों के ताने-बाने से एक सुसंगठित मजबूत समाज का होना आवश्यक है। वेदोक्त गुण-कर्म-स्वभावानुसारी ऐसे वर्णाश्रमी मनुष्य-समाज का उपर्युक्त नामकरण आर्य-समाज ही हो सकता है, अन्य नहीं। सो, जब आप धार्मिक, सामाजिक आदि दुःस्थितियों के दोषों को दूर करने को आवश्यक समझते हुये तत्पर हैं तो नाम सम्बन्धी दोष को दूर करने में आपको आपत्ति क्यों हो रही है? रूप को निर्दोष करने की तरह इसके नाम को भी निर्दोष करना आवश्यक है। नाम का नाम वाले पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। नाम के इस महत्त्व को देखते हुए हमारी संस्कृति में नामकरण नामक संस्कार विहित है। अत: धर्म, समाज के रूप में सुधार की तरह इसके नाम का सुधार भी आवश्यक है। तभी वास्तविक एकता हो सकती है। स्वामी विज्ञानानन्द जी महाराज इस विषय में कहते हैं कि "आज इसी (हिन्दु) संबोधन ने हमारे देश के निवासियों को विभिन्न वेष-भूषा, खान-पान, रीति-रिवाज के बावजूद एक दूसरे को एक-सूत्र में जोड़ रखा है। आज इसी सम्बोधन में इसे देश एवं जाति की एकता, अखण्डता तथा शक्ति निहित है"। स्वामी जी! आप किस कल्पना-लोक में विचरण कर रहे हैं? देश और जाति की एकता किसी नाम (सम्बोधन) मात्र के जपने से हो सकती है? भले ही वह नाम "हिन्दु" हो या "आर्य" हो अथवा कोई और हो। किसी देश और जाति की एकता, अखण्डता और शक्ति का स्रोत नाम मात्र में नहीं बल्कि भाषा, धर्म, संस्कृति और सामाजिक संगठन की एकता में निहित होता है—यह निश्चित समझिए। अब प्रश्न यह है कि हमारे देश और जाति की एकता और अखण्डता के लिए हमारी उपयुक्त भाषा, धर्म,

संस्कृति तथा सामाजिक संगठन का स्वरूप क्या है। तो, यदि यह जगत्, परम-पिता परमात्मा ने अपने पुत्र-भूत जीवात्माओं के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिये रचा है तो उस पिता का अभिप्राय मानवों के धर्माचरण में ही हो सकता है अधर्माचरण में नहीं, क्योंकि केवल धर्माचरण से ही इस लोक के अर्थ और काम के पुरुषार्थों का और परलोक में मोक्ष के परम पुरुषार्थ का सिद्ध होना सम्भव है। और यदि यह कथन ठीक है तो मनुष्य को धर्माचरणी होना भी अनिवार्य है। ऐसे धर्माचरणी को ही हम अपनी भाषा में "आर्य" कहते हैं और अधर्माचरणी को "दस्यु" कहते हैं। अतः देश और जाति की एकता और अखण्डता तथा शक्ति की प्राप्ति के लिये आर्य-भाषा, आर्य-धर्म, तथा आर्य-समाज का होना आवश्यक एवं अनिवार्य है। इस अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये "हिन्दु" शब्द सर्वथा अनर्थक और दोष-कारक है क्योंकि किसी भी आर्य-भाषा की परम्परा में हिन्दु शब्द नहीं है। यह जिस भाषा में है और जिन लोगों ने हमारे ऊपर थोप दिया है वहाँ इसका अर्थ अधर्मी (काफिर), दस्यु, डाकू, चोर आदि है। अतः सभी बुद्धिमान् जनों को इसे छोड़कर वेदोक्त आर्य नाम धारण करना ही कर्त्तव्य है, हिन्दु नाम नहीं।

(7) अन्त में स्वामी विज्ञानानन्द जी कहते हैं—

"स्वामी दयानन्द जी एवं आर्यसमाजी बन्धुओं का हिन्दुत्व के प्रति नकारात्मक विचार पढ़ा। अब आगे इनके सकारात्मक विचार भी प्रस्तुत हैं। पं. लेखराम जी द्वारा विरचित स्वामी दयानन्द जी की प्रथम प्रामाणिक जीवनी में से कुछ अंश लेकर 'आर्ष साहित्य-प्रचार ट्रस्ट' ने एक पुस्तक "दयानन्द शास्त्रार्थ-संग्रह" के नाम से छापी है। उसमें दो प्रसंगों का वर्णन है जिसे मैं प्रस्तुत करता हूँ—

एक बार पादरी पारकिस ने स्वामी दयानन्द जी से कहा कि— 'हिन्दु धर्म' कच्चे धागे के समान है। स्वामी दयानन्द जी का उत्तर सारगर्भित है उस पर विचार करें—

स्वामी दयानन्द— 'हिन्दूधर्म लोहे के समान वज्र है'। पादरी एच. पारकिस— 'वह कैसे'। स्वामी दयानन्द जी— 'देखो, इसमें वेद और

ईश्वर को मानने वाले आस्तिक भी हैं तो निरीश्वरवादी वेद-विरोधी जैन और बौद्ध भी हैं। यहां कोई शैव, शाक्त, वैष्णव, गणपति हैं तो कोई वाममार्गी। कोई मूर्तिपूजा-कर्ता है तो कोई निराकार की पूजा करता है। सब साम्प्रदायिक-दृष्टिकोण से एक-दूसरे के विरोधी हैं फिर भी आपस में एक साथ सौहार्द से रहते हैं। खान-पान, शादी-विवाह, मिलना-जुलना, एक दूसरे के धार्मिक कार्यों में सम्मिलित होना आदि व्यवहार करते रहते हैं। अधिकांशतः तो एक घर में विभिन्न मत वाले पति-पत्नी, भाई-बहन, माता-पिता के रूप में मिल सकते हैं। ये सब हिन्दू हैं। इन्हें कोई हिन्दूधर्म से पृथक् नहीं कर सकता। इसलिए हिन्दूधर्म सागर के समान गुण रखता है। यह सागर की तरह विशाल और गम्भीर है। समुद्र की लहरें सागर में उठती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं। उसी तरह हिन्दूधर्म में विभिन्न मत-मतान्तर तरंगवत् उठते हैं और पुनः धीरे-धीरे उसकी विशालता में समाहित हो जाएंगे। इस कारण हिन्दूधर्म लोहे के समान वज्र-अटूट और सागर के समान विशाल और गम्भीर है'।

आगे चलकर स्वामी विज्ञानानन्द जी कहते हैं— "दुर्भाग्य से स्वामी के हिन्दुत्व के प्रति इन विचारों को आज के अनेक आर्यसमाजी शायद नहीं पढ़ते। इन्हें क्या हो गया है"।

समीक्षा—

यहां उपर्युक्त प्रसंग में श्री विज्ञानानन्द जी ने स्वामी दयानन्द जी के हिन्दुत्व-विषयक मन्तव्य का सकारात्मक विचार भी उपस्थित किया है। इससे उन्होंने यह लिखने का प्रयत्न किया है कि इस विषय में स्वामी दयानन्द एक ही विषय में एक साथ विरोधी विचार रखते थे। इसका अर्थ तो यही होता है कि स्वामी दयानन्द का इस बारे में मन्तव्य परस्पर विरोधी है। सो, स्वामी दयानन्द जैसे महा-विद्वान्, सत्यैकनिष्ठ, आप्त पुरुष को इस प्रकार के दूषित विचार से लांछित करने से पूर्व दस बार विचार कर लेना आवश्यक था कि मैं ऐसा गलत, असंभव, मूर्खता-पूर्ण विचार क्यों लिख रहा हूँ। परन्तु स्पष्ट यह है कि इनका हिन्दुत्व के प्रति दुराग्रह इन्हें सत्यासत्य के निर्णय करने में बाधक बन बैठा है और अपने दूषित विचार के पक्ष में स्वामी

दयानन्द को घसीटने का निष्फल दुष्प्रयास किया है। सो, आप तो वर्णाश्रमी वेदैक-परमप्रमाणी आर्यों को तथा वर्णाश्रम-विरोधी वेद-विरोधी जैन, बौद्ध तथा अन्य नास्तिकों को एक ही नाम (हिन्दु) के अन्तर्गत रख कर एकता का स्वप्न देखते हैं—इसी प्रकार निराकार और साकार परमात्मा के उपासकों को; गुण-कर्म-स्वभावानुसारी वर्णाश्रमियों और केवल जन्मानुसारी वर्णाश्रम मानने वाले परस्पर विरोधियों को विदेशी, विधर्मी मुसलमानों द्वारा दी गई एक ही "हिन्दू" नाम की लाठी से एक ही कठघरे (वेड़े) में घेर कर हिन्दूनाम से देश और जाति की एकता और अखण्डता का व्यर्थ कीर्त्तन करते नहीं अघाते तो स्वामी दयानन्द को हिन्दुत्व के प्रति नकारात्मक और सकारात्मक विचार रहने वाला कहते आपको क्या देर लगेगी ?

'आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट' से छपी 'दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह' नाम की पुस्तक मुझे पढ़ने को नहीं मिली परन्तु पं० लेखराम द्वारा विरचित स्वामी दयानन्द की जीवनी उसी ट्रस्ट से छपी (सं० २०३४ वि०) मेरे पास है जिसमें से, स्वामी विज्ञानानन्द जी के कथनानुसार, उक्त प्रसंग उद्धृत किया गया है। यह प्रसंग उक्त जीवनी के पृष्ट 342 पर उल्लिखित है। जो भी इस प्रसंग को पूरा पढ़ेगा वह स्वामी विज्ञानानन्द जी के ज्ञान और भाव-शुद्धता पर तरस खाए बिना न रहेगा। इसे पढ़कर स्वामी दयानन्द द्वारा विरचित सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में लिखित उनके वचन रह-रह कर मेरे मन में उठ रहे हैं जो यहां उद्धृत करने का लोभ-संवरण नहीं कर पा रहा। स्वामी दयानन्द कहते हैं—

"मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि हठ, दुराग्रह और अविद्या आदि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है"। वे आगे भी लिखते हैं—

"वाक्यार्थ-बोध में चार कारण होते हैं— आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य। जब इन चारों बातों पर ध्यान देकर जो पुरुष ग्रन्थ को देखता है तब उसको ग्रन्थ का अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है। ...... बहुत से हठी, दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि जो वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मतवाले

लोग ; क्योंकि मत के आग्रह से उनकी बुद्धि अन्धकार में फंस के नष्ट हो जाती है" ।

स्वामी विज्ञानानन्द जी इस कथन के अच्छा-खासा उदाहरण हैं क्योंकि उक्त प्रसंग को पढ़ें तो स्पष्ट है कि कमिश्नर (न कि पादरी जैसा कि स्वामी जी ने उक्त प्रसङ्ग में लिखा है) एच्. पारकिंस तो स्वामी दयानन्द के कथन को यथायथ समझ रहा है परन्तु हमारे स्वामी विज्ञानानन्द जी हैं जो नहीं जान पा रहे। क्योंकि स्वामी दयानन्द का उक्त उत्तर सुनकर एच्. पारकिंस ने स्वामी जी से पुनः प्रश्न किया—"आप किस प्रकार का मत बढ़ाना चाहते हैं" । तब स्वामी जी ने पारकिंस को उत्तर दिया— "हम केवल यह चाहते हैं कि सब लोग पवित्र वेद की आज्ञा का पालन करें और केवल निराकार अद्वितीय परमेश्वर की पूजा और उपासना करें। शुभ गुणों को ग्रहण करें और अशुभों को त्याग करें" ।

इस द्वितीय प्रश्नोत्तर से एकदम स्पष्ट है कि एच्. पारकिंस (कमिश्नर अमृतसर) को स्वामी दयानन्द जी ने हिन्दू धर्म के बारे में जो बात कही वह उनका अपना अभिमत कदापि नहीं था, अन्यथा कमिश्नर के द्वारा फिर प्रश्न उठाना कि "आप किस प्रकार का मत बढ़ाना चाहते हैं" और इसका स्वामी दयानन्द द्वारा प्रथम दिए उत्तर से भिन्न उत्तर देने का अवकाश ही कोई न था । अतः स्वामी विज्ञानानन्द जी ने जो अपने इस लेख में केवल प्रथम प्रश्नोत्तर को उद्धृत करके उसे स्वामी दयानन्द का मत बताया है उनका यह कथन एकदम झूठा है। और यदि "आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट" से प्रकाशित "दयानन्द शास्त्रार्थसंग्रह" में पारकिंस सम्बन्धी पूर्वोक्त दोनों प्रश्नोत्तर छपे हैं तो मैं यह भी लिखने में यहाँ विवश हूँ कि स्वामी विज्ञानानन्द जी ने इस लेख में द्वितीय प्रश्नोत्तर को छिपा कर पाठकों को धोखा देने का अपराध भी किया है। यदि लिखते तो धोखा कैसे दे सकते। द्वितीय प्रश्नोत्तर को पढ़कर तो हर एक जान लेता कि स्वामी दयानन्द को पुराणों, तन्त्रों तथा ऐसे ही अन्य मतों के ग्रन्थों की सात-अनाजी खिचड़ी वाली हिन्दुधर्म की वेद-विरुद्ध स्थिति कदापि सह्य नहीं थी, क्योंकि वे तो परमेश्वर के आज्ञा-स्वरूप वेदों के धर्म के स्वयं अनुष्ठाता, उद्धारक तथा प्रचारक "आर्य" संन्यासी थे ।

हां ! यह प्रश्न अवश्य हो सकता है कि यदि स्वामी दयानन्द को "हिन्दू" नामक धर्म अभीष्ट नहीं था तो कमिश्नर एच्. पारकिंस के समक्ष हिन्दू धर्म को लोहे से भी अधिक पक्का और समुद्र जैसा विशाल और गम्भीर क्यों कहा। इसका उत्तर बहुत स्पष्ट है। स्वामी जी और कमिश्नर का वार्तालाप एक गुरु-शिष्य का अथवा सतीर्थ्य सहपाठियों का नहीं था कि जिससे संवाद ही होता। यह तो विदेशी एवं विधर्मी और शासक बना कमिश्नर था और दूसरी ओर वेदेश्वर का परमाराधक, स्वातन्त्र्य का स्वप्न लेने वाला सच्चा आर्य संन्यासी था। धर्म के स्वरूप को आधार बना कर जब कमिश्नर ने देश और जाति के अपमान के लहज़े में स्वामी जी से प्रश्न किया तो स्वाभिमानी दयानन्द क्या उसके साथ संवाद-कथा में प्रवृत्त होता? नहीं! कमिश्नर की मनीषा को ताड़ कर जल्प-कथा के सर्वथा अनुरूप ही कमिश्नर को जवाब दिया कि हिन्दु-धर्म कच्चा धागा नहीं। यह तो लोहे से भी अधिक दृढ़ है, इसे तोड़ा नहीं जा सकता। स्वामी का यह उत्तर जल्प-कथा के सर्वथा अनुरूप ही था। स्वामी जी जैसा महापुरुष "वितण्डा" कथा में प्रवृत्त नहीं हो सकता था। कमिश्नर ने भी ऐसा कोई कदम नहीं उठाया। जल्पकथा में जब एक पक्ष स्थापित किया जाता है तो प्रतिपक्षी नियमत: उसके विरुद्ध प्रतिपक्ष स्थापित करता है[1]। स्वामी जी तथा कमिश्नर के बीच यही हुआ। जब कमिश्नर ने कहा कि हिन्दु-धर्म कच्चे सूत के धागों के समान कच्चा क्यों है"। तो स्वामी जी से मुंह-तोड़ जवाब मिला— 'हिन्दूधर्म कच्चे धागे के समान

---

1. भारतीय ऋषि-मुनियों ने प्रमाणों के द्वारा सत्य की प्राप्ति के लिए न्याय-शास्त्र का प्रवचन किया है। इसमें न्याय-दर्शन नामक शास्त्र के रचयिता गौतम ने तीन प्रकार की कथाओं का वर्णन किया है— वाद, जल्प और वितण्डा। इनके स्वरूप और उद्देश्य को इन सूत्रों के द्वारा बताया गया है—

   (i) तं शिष्य-गुरु-सब्रह्मचारि-विशिष्टश्रेयोर्थिभिरभ्युपेयात्।
   ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च संवादः ॥

   (ii) तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोह-संरक्षणार्थं
   कण्टक-शाखावरणवत् ॥
   ताभ्यां विगृह्य कथनम् ॥ —4. 2. 47; 48; 50; 51

नहीं प्रत्युत लोहे से भी अधिक मज़बूत है। लोहा टूट जाय परन्तु यह नहीं टूटता'। जब कमिश्नर ने स्वामी जी से उनके दावे को स्पष्ट करने को कहा तो एक अत्यन्त कुशल वकील की तरह प्रत्युत्पन्न-मति स्वामी दयानन्द ने इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया कि प्रतिपक्षी कमिश्नर इस मुद्दे पर अवाक् रह गया और तब सहज भाव से उनके अपने मत के विषय में प्रश्न किया तो स्वामी जी महाराज ने भी तदनुरूप उत्तर से सन्तुष्ट कर दिया। अस्तु।

इस वार्तालाप से भी एकदम स्पष्ट है कि हिन्दू-धर्म नामक परस्पर विरुद्ध मत अन्य चीज है और स्वामी जी को अभिमत वैदिक मत इससे भिन्न है।

इससे स्पष्ट है कि एच. पारकिंस और स्वामी दयानन्द के वार्तालाप से स्वामी विज्ञानानन्द जी का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

V

काशी की धर्म-सभा द्वारा हिन्दुनाम की अमान्यता

अन्त में यह तथ्य भी सब को विदित होना चाहिए कि "हिन्दु" नाम के विरोध के बारे में स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायी आर्यसमाजी लोगों ने ही आन्दोलन किया— ऐसी बात नहीं है, क्योंकि स्वामी दयानन्द के मन में अभी आर्यसमाज की स्थापना का विचार तक नहीं आया था कि 1870 ई० में काशी के वर्णाश्रमी सनातनी काशी के तथा देश के 45 विद्वानों ने जो काशीराज के अधीन धर्मसभा के सदस्य थे उन्होंने 'टेढ़ा-नीम' नामक स्थान पर बहुत विचार-विमर्श के अनन्तर यह व्यवस्था दी थी कि "हिन्दु" नाम हमारा नहीं है और यवनों (मुसलमानों) की भाषा का है और अधर्मी का वाचक है अतः इस नाम को कोई भी वर्णाश्रमी स्वीकार न करे। यह व्यवस्था चोटी के देश के धर्म-शास्त्रियों ने जनता के एक प्रश्न के उत्तर में दी थी। इससे यह स्पष्ट है "हिन्दू" नाम का विरोध तो स्वामी दयानन्द के आर्यसमाज की स्थापना से 5 वर्ष पूर्व काशी के सनातनी विद्वानों ने कर दिया था। इस घटना का ज्ञान अचानक स्वामी श्रद्धानन्द जी को 1925 ई० में पुराने कागज़-पत्रों से प्राप्त

हुआ था। उन्होंने यह घटना "विचार-वाटिका" खण्ड द्वितीय में पृ० 137-38 पर छपवा दी। जनता का वह प्रश्न और धर्मशास्त्रियों की उत्तरस्वरूप व्यवस्था निम्न प्रकार है :—

प्रश्न

"श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्ध, सत्रहवें अध्याय में लिखा है कि सतयुग (में) हंसवर्ण सब कोई कहावते थे और त्रेता में हंसात्त चार वर्ण चार आश्रम का विभाग होता गया। इस कारण वर्णाश्रमी कहाये। अब सब कोई हिन्दु नाम करके ख्याल करते हैं। सो, हिन्दू शब्द की चर्चा कोई शास्त्र में नहीं मिलती। इस हेतु हम यह जानना चाहते हैं कि हिन्दु कहावना उचित वा अनुचित है"।

उत्तर

"वर्णाश्रमी देश-बोधक जो हिन्दू शब्द है सो, यवन-संकेतित है। वर्णाश्रमी-बोधक जो हिन्दू शब्द है, वह भी यवन-संकेतित है। इस कारण हिन्दु कहावना सर्वथा अनुचित है। यह निर्णय श्री काशी मध्य टेड़नीम तले श्री महाराजाधिराज काशीराज महाराज संरक्षित धर्मसभा में सब लोगों ने किया। हस्ताक्षर :—

(1) श्री विश्वनाथ शर्मा ··· ··· (45) श्री बाबा शास्त्री

हिन्दू-शब्दो हि यवनेष्वधर्मि-जन-बोधकः।
अतो नार्हति तच्छब्द-बोध्यतां सकलो जनः॥
पापिनां पापी यवनः संकेतं कृतवान् नरः।
नोचितः स्वीकृतोऽस्माभिर्हिन्दु-शब्द इतीरितः॥
काफ़िर को हिन्दू कहत, यवन स्वभाषा मांहि।
ता ते हिन्दू नाम यह, उचित कहइवो नांहि॥"

इससे स्पष्ट है कि काशी के सनातनी विद्वानों की दृष्टि में भी हिन्दू नाम यवनों (मुसलमानों) के द्वारा दिया गया है और उनकी भाषा में अधर्मी (काफिर) का वाचक है। यह स्वामी दयानन्द के कथन से पूर्व ही काशी के धर्मशास्त्रियों ने भी घोषित किया और व्यवस्था दी कि वर्णाश्रमी (आर्य) को यह हिन्दु नाम स्वीकृत नहीं करना चाहिए। सभी वर्णाश्रमी आर्य नाम से जाने जाते हैं यह तथ्य वेद तथा तदनुयायी ऋषि मुनियों के शास्त्रों एवं इतिहास से स्पष्ट है।

इससे यही अर्थ निकलता है कि प्रत्येक वर्णाश्रमी को आर्य कहना-चाहिए, इसी वर्णाश्रमी के देश का भी नाम हिन्दुस्थान नहीं प्रत्युत आर्यावर्त्त कहना-कहाना चाहिए। यह प्रमाण-सिद्ध सर्वसम्मत निर्णय है ।। इति शम् ।।

ऋषि-वचन

जब तक एक मत, एक हानि-लाभ, एक दुःख-सुख परस्पर न मानें तब तक उन्नति होना बहुत कठिन है।

जब तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मत-मतान्तर का विरुद्ध वाद न छूटेगा तब तक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या, द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहें तो हमारे लिए यह बात असाध्य नहीं है। यह निश्चय है कि इन (मत वाले) विद्वानों के विरोध ही ने सबको विरोध-जाल में फंसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें तो अभी ऐक्य-मत हो जायें।

(सत्यार्थप्रकाश, १०वां समु० पृ० ४१४; ४२६)

जो उन्नति करना चाहो तो आर्यसमाज के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिए, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा······इसलिए जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त्त देश की उन्नति का कारण है वैसा दूसरा नहीं हो सकता।

(पृ० ६०१)

जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य, विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है वही देश सौभाग्यवान् होता है। (३ समु० पृ० १२९)

जब लों वर्तमान और भविष्यत् में संन्यासी उन्नतिशील नहीं होते तब लों आर्यावर्त्त और अन्य देशस्थ मनुष्यों की वृद्धि नहीं होती। जब वृद्धि के कारण—वेदादि सत्यशास्त्रों का पठन-पाठन, ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के यथावत् अनुष्ठान, सत्योपदेश होते हैं तभी देशोन्नति होती है। (पृ० ६१५)

—दयानन्द सरस्वती